

श्रीहरिः

श्रीमान् शङ्कराचार्यजी प्रणीत

प्रबोधसुधाकर।

(वेदान्त ग्रन्थ)

ऋषिकुमार प० रामस्वरूप कृत.

सरल भाषाटीका सहित

जिसको

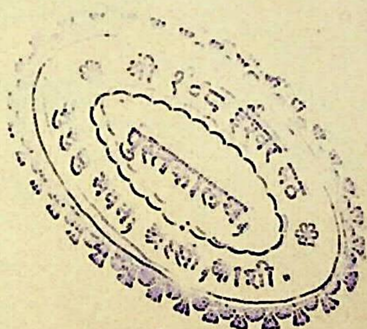
शिवलाल गणेशीलाल ने

निज लक्ष्मीनारायण यन्त्रालय

मुरादाबाद में मुद्रित कर

प्रकाशित किया.

विक्रमाब्द १९५८


पुस्तकालय
काशी

श्रीहरिः

श्रीमच्छङ्कराचार्य्य जी विरचित.

प्रबोधसुधाकर.

(वेदान्त ग्रन्थ)

मुरादाबादस्थ

श्रीयुत पण्डित भोलानाथात्मज पण्डित राम-
स्वरूप शर्म्मा (ऋषिकुमार) रचित.

भाषाटीका सहित.

और संशोधित

जिसको

वेदान्तप्रेमियों के आनन्दार्थ

लाला शिवलाल गणेशीलाल ने

अपने "लक्ष्मीनारायण" यन्त्रालय में

छपवाकर प्रकाशित किया.

सम्वत् १९५८

५८

श्रीहरिः

समर्पणपत्र.

जिनका विद्याप्रेम और धर्मप्रेम अनुकरणीय है, जिनका चित्त सदा अध्यात्ममननशील रहता है, जो निजदेश की पठितमण्डली में विशेषतः ब्राह्मणसमाज में प्रतिष्ठा के पात्र हैं, जो सदाचार के दृष्टांतस्थल हैं, जिनके सहोदरसमान प्रेमसे मैं कृतार्थ हूँ, और जो सदा मुझे विद्याप्रचार तथा धर्मप्रचार के कार्यों में उत्साहित करते रहते हैं, उन ही हिन्दूसमाजहितेच्छु, वदरिकाश्रमप्रदेश के टिहिरी राज्यान्तर्गत सकलाना निवासी श्रीमान् प० सुरेन्द्रदत्त सकलानी जी महाशय के करकमल में भक्ति के साथ इस पुरातन पुस्तक को सादर समर्पण करता हूँ ॥

भवदीय—

आश्विनकृष्णा अष्टमी
विक्रमाब्द १९५८

ऋ० कु० रामस्वरूप शर्मा
मुरादाबाद.



श्रीहरिः

भूमिका.

अद्वैत को स्थापन करनेवाले श्रीशङ्कराचार्यजी की कीर्त्ति, संसार में विदित है, उन्हों ने संसारमग्न प्राणियों के उपकारार्थ वेदांतशास्त्र के अनेकों ग्रन्थ रचे, जिनमें से अनेकों ग्रंथ छपकर मुमुक्षुओं के चित्तको शान्तिप्रदान कररहे हैं, उन्हीं जगदुपकार-परायण शिवस्वरूप श्रीशङ्कराचार्यजीके रचेहुए 'प्रबोधसुधाकर, ग्रंथ की एक जीर्ण प्रति वृन्दावननिवासी श्रीमान् प०यशोदानंदन गोस्वामीजीके द्वारा,लक्ष्मीनारायणप्रेस के स्वामी श्रीमान् सेठ शिवलालजी के पुत्र लालागणेशीलाल जीको प्राप्तहुई, उन्हों ने इस पुस्तक को संसारी पुरुषों का परमलाभदायक जानकर मुझे शुद्ध और भाषानुवाद करने की प्रेरणा करी जिसके अनुसार मैंने यथाबुद्धि संशोधन और अनुवादकरा, वास्तव में ऐसे पुस्तक को छपवाकर उपरोक्त लाला साहबने संस्कृत और हिन्दी का एकप्रकार उपकार किया है, क्योंकि—यदि ऐसे पुस्तक न छपें तो कुछकाल में जीर्ण होकर लुप्तप्राय होजायँ. आशा है,कि संस्कृत और हिन्दीभाषा के प्रेमी, लक्ष्मीनारायण यन्त्रालय के छपे ग्रन्थों को खरीदकर, प्रकाशक के उत्साह को बढ़ावेंगे ।

निवेदक—

अनुवादकर्त्ता प० रामस्वरूपशर्म्मा.

मुरादाबाद (पश्चिमोत्तर)



श्रीः ।

ॐ नमः सच्चिदानन्दमूर्तये.

परिव्राजकाचार्य–श्रीमच्छङ्कराचार्य प्रणीत.

प्रबोधसुधाकर.

ऋषिकुमार प० रामस्वरूप शर्मा गौड़कृत भाषाटीका सहित.

नित्यानन्दैकरसं सच्चिन्मात्रं स्वयंज्योतिः ।
पुरुषोत्तममजमीशं वन्दे श्रीयादवाधीशम् ॥ १ ॥

नित्य, आनन्दस्वरूप, एकरस [षड्भाव विकाररहित] सत्‌रूप, चैतन्यस्वरूप, स्वयंप्रकाश, अजन्मा, जगदीश्वर, यादवपति पुरुषोत्तम को वन्दना करता हूँ ॥ १ ॥

यंवर्णयितुं साक्षाच्छ्रुतिरपि मूकेव मौनमाचरति
सोऽस्माकं मनुजानां किं वाचां गोचरो भवति २

जिनका साक्षात् (तत्वरूप से) वर्णन करने में वेद भी ",नेति, नेति" कहकर गूँगे पुरुषकी समान मौन धारण करते हैं वह त्रिगुणातीत परमेश्वर क्या हम मनुष्योंकी वाणीके गोचर होसक्ते हैं ? (अर्थात् जब वेदही वर्णन नहीं करसक्ते तो हम अल्पज्ञ मनुष्योंकी वाणी किसप्रकार वर्णन करसकेगी ?) ॥ २ ॥

यद्यप्येवं विदितं तथापि परिभासितो भवेदेव ।
अध्यात्मशास्त्रसार-हरिचिन्तनकीर्तनाभ्यासैः ३

यद्यपि (बड़े २ ज्ञानी महात्माओं ने) ऐसाही समझा है तथापि (सकल मुमुक्षु पुरुष अपनी २ शक्तिके अनुसार) आत्मज्ञान देनेवाले शास्त्रोंके साररूप हरिचिन्तन (भगवान के ध्यान) हरिकीर्त्तन और (विषयों में आसक्तिके त्याग का) अभ्यास आदि साधनों के द्वारा (भगवान् भक्तों के हृदयमें) भासमान होतेही हैं ॥ ३ ॥

क्लृप्तैर्बहुभिरुपायैरभ्यासज्ञानभक्त्याद्यैः ।
पुंसो विना विरागं मुक्तेरधिकारिता न स्यात् ।४।

अभ्यास, ज्ञान और भक्ति आदि (शास्त्रमें कहेहुए) बहुतसे यथोचित (ठीक २) उपायोंके द्वारा विषयोंमें विराग (चित्तका हटना) विनाहुए पुरुष मुक्तिका अधिकारी (पाने के योग्य) नहीं होता है ॥ ४ ॥

वैराग्यमात्मबोधो भक्तिश्चेति त्रयं गदितम् ।
मुक्तौसाधनमादौतत्रविरागोवितृष्णताप्रोक्ता५

(महात्मा पुरुषोंने) मुक्तिमें पहिले तीन साधन कहे हैं, १ वैराग्य, २ आत्मज्ञान और ३ भक्ति; तिनमें—वितृष्णता (किसी वस्तुमें तृष्णा न होना) का नाम वैराग्य कहा है ॥५॥

सा चाहंममताभ्यां प्रच्छन्ना सर्वदेहेषु ।
तत्राहन्ता देहे ममता भार्यादिविषयेषु॥ ६ ॥

वह वितृष्णता रूप वैराग्य, सकल पुरुषोंके देहोंमें अहन्ता ममतारूप दो परदों से ढकाहुआ है, तिनमें अपने शरीर में [‘मैं पाञ्चभौतिक शरीर रूप हूँ, ऐसी बुद्धि होना] अहन्ता [अहङ्कार] है और स्त्री पुत्रादि के विषैं [यह मेरे हैं ऐसी बुद्धि होना] ‘ममता’ कहाती है [इन अहन्ता और ममता

रूप दो परदों के हटजाने से इनही सकल शरीरों में वह वैराग्य दीखने लगता है) ॥ ६ ॥

देहः किमात्मकोयं कः सम्बन्धस्तथा विषयैः।
एवं विचार्यमाणेऽहन्ताममते निवर्त्तेते ॥ ७ ॥

यह देह क्या वस्तु है ? तथा स्त्री पुत्रादिके साथ क्या सम्बन्ध है ? (अर्थात् यह शरीर तो पृथ्वी जल आदि पञ्चभूत का बना है, और कुछ कालमें नष्ट होजाता है, आत्मा इससे भिन्न है क्योंकि शरीरकी भस्म आदि होजाने परभी आत्मा को कोई हानि नहीं पहुँचती है। तथा स्त्री पुत्रका सम्बन्ध भी झूठाहै, क्योंकि प्राणान्त होनेपर कोई किसीके साथ नहीं जाता, जिस प्रकार अनेकों पथिक (रास्तेगीर) रात्रि में एक स्थानपर विश्राम करके प्रातःकाल होतेही अपने२ मार्ग को चलेजाते हैं तिसी प्रकार आयु पूरी होनेपर स्त्री पुत्रादि सकल कुटुम्बी धनजनादि को छोड़कर इकलेही [चलेजाते हैं] इस प्रकार विचार करनेसे अहन्ता और ममता दूर होती हैं ७

स्त्रीपुंसोः संयोगात्सम्पाते शुक्रशोणितयोः।
प्रविशन् जीवः शनकैः स्वकर्मणा देहमाधत्ते।८।

स्त्री पुरुष के संयोग से वीर्य और रजका मेल होनेपर धीरे से अपने कर्मानुसार जीव प्रवेश करता हुआ शरीरको धारण करता है ॥ ८ ॥

मातृगुरूदरदर्यां कफमूत्रपुरीषपूर्णायाम्।
जठराग्निज्वालायां नवमासं पच्यते जन्तुः ॥९॥

तदनन्तर वह जीव कफ मूत्र और विष्टे से भरेहुए माता के उदर (पेट) रूप गुफामें जठराग्निकी लपटोंसे पकता [दुःख पाता] है ॥ ९ ॥

दैवात्प्रसूतिसमये शिशुस्तिरश्चीनतां यदा याति।
शस्त्रैर्विखण्ड्य स तदा बहिरिह निष्काष्यतेऽतिबलात्

प्रारब्धवश यदि वह वालक माता के उदरसे निकलते समय योनिमार्ग में तिरछा होजाय तो शस्त्रोंसे खण्ड२ करके अतिवल से वाहर निकालाजाता है ॥ १० ॥

अथवा यन्त्राच्छिद्राद्यदा तु निःसार्यते प्रबलैः ।
प्रसवसमीरैश्च तदा यः क्लेशः सोऽप्यनिर्वाच्य :११

और जिस समय प्राणी योनिद्वार से निकाला जाता है,उस समय प्रसव के प्रवल पवनों (जोर२के माता के श्वासों) से जो वालक को क्लेश होता है उसका कहना नहीं वनसक्ता ।११।

आधिव्याधिवियोगात्मीयविपत्कलहदीर्घदारिद्र्यैः
जन्मानन्तरमपि यः क्लेशः किं शक्यते वक्तुम्१२।

प्राणी का जन्म होजाने के अनन्तर आधि (किसी के कटु वचन कहने से वा किसी इच्छित कार्य के न होसकने से मन का दुःख] व्याधि [ज्वर खाँसी आदि अनेकों शरीर के रोग] वियोग [किसी मित्र पुत्र कलत्र आदि के मरण आदि होने के कारण उस से विछोह] आत्मीयविपत् [किसी अपने कुटुम्बी के ऊपर विपत्ति आपड़ना] कलह [गृहस्थमें क्लेश रहना] और वहुत कालतक दरिद्र [निर्धन= दुर्दशाग्रस्त] रहने आदि से जो क्लेश होताहै क्या उसका कहना वनसक्ता है ? [किन्तु कदापि नहीं 'जा तन परै सोई तन जाने' अतः पुरुष को योग्य है कि—ऐसे दुःखपूर्ण संसार बन्धन से छूटने के निमित्त प्रतिदिन थोड़ा वहुत समय अवश्य भगवान् के भजन में लगावे] ॥ १२ ॥

नरपशुविहङ्गतिर्यग्योनीनां चतुरशीतिलक्षाणाम्
कर्मनिबद्धोजीवः परिभ्रमन् यातनांभुङ्क्ते॥१३॥

कर्मोंसे बँधाहुआ (जैसे २ भले बुरे कर्मकरे हैं उनके अनुसार) यह जीव भ्रमण करता हुआ मनुष्य-पशु-पक्षी-कीट पतङ्गादि चौरासी लाख योनियों के अनेकों क्लेशोंको भोगता है ॥ १३ ॥

चरमस्तत्र नृदेहस्तत्राग्र्य जन्मान्वयोत्पत्तिः ।
स्वकुलाचारविचारः श्रुतिप्रचारश्च तत्रापि ॥१४॥

उन चौरासी लाख योनियोंमेंभी यह मनुष्य देह, अवधि है (अर्थात् सबके अन्तमें इसको पाकर यदि प्राणी ने कुछ भगवद्भजन करलिया तो अच्छा है नहीं तो फिर चौरासी की फाँसीमेंही फँसना पड़ेगा) इस मनुष्यशरीर को पाकर भी ब्राह्मणादि उच्च कुलमें जन्म होना अवधि है और ऐसे होनेपर भी अपने कुलके अनुसार सदाचारपर ध्यान देना तिसपर भी वेदका पढ़ना पढ़ाना अवधि है अर्थात्-प्राणीको उचितहै कि यदि किन्ही शुभकर्मों के अनुसार यह मानव देह मिलजाय तो इसको एक क्षणभी निरर्थक न रक्खे किन्तु परिश्रमके साथ सदाचरण से रहताहुआ वेदादिको पढ़ उनके उपदेशानुसार संसारबन्धन से मुक्त होनेका उपाय करे ॥ १४ ॥

आत्मानात्मविवेकोनोदेहस्यचाविनाशिताज्ञानम्
एवं सति स्वयमायुःप्राज्ञैरपि नीयते मिथ्या१५

यदि आत्मानात्मविवेक अर्थात् केवल आत्मस्वरूपही सत् है, शेष सकल संसार नाशवान् है, इस प्रकारका विवेक जिसको न हुआ, तथा शरीरके नाशवान् होनेका ज्ञान अर्थात् यह

मनुष्यदेह चिरकालतक रहनेवाला नहीं है, यदि पूर्णही आयु हुई तो केवल सौ वर्ष रहेगा, नहीं तो न जाने किस समय कर्म फल के अनुसार मरणावस्थाको प्राप्त होजाय; अतः जहांतक होसके शीघ्रतासे "मानो काल शिखा पकड़े हुए है" ऐसा जान आत्मोद्धारके निमित्त चेष्टा करे,जिनके हृदयमें इस प्रकार का विचार न हुआ वह यदि प्राज्ञ कहिये विद्वान् भी हों तो अपनी आयुको मिथ्याही खोतेहैं अर्थात् उनका विद्वान् होना न होना एक समान है, अतः पुरुषको योग्य है कि संसार और शरीर की अनित्यतापर ध्यान देताहुआ प्रतिदिन थोड़ा वहुत समय अवश्य भगवद्भक्ति में लगावे ॥ १५ ॥

आयुः क्षणलवमात्रं न लभ्यते हेमकोटिभिःक्वापि
तच्चेद्गच्छति सर्वं मृषा ततः काधिका हानिः १६॥

जब आयु कर्मानुसार पूरी होजाती है, उसके उपरान्त यह मनुष्य एकक्षण तथा लवमात्र समयके निमित्त भी यदि अधिक श्वाँसें लेना चाहें तो करोड़ों सुवर्ण अर्थात् असंख्य धन दान करके भी नहीं लेसकता, ऐसी अमूल्य आयु को यदि कोई मूढ़ पुरुष मदोन्मत्तहो सम्पूर्णही वृथा सांसारिक झगड़ोंमें वितादेय तो कहो इससे अधिक और कौनसी हानि होगी ? १६

नरदेहातिक्रमणात्प्राप्तो योगं पश्वादिदेहानाम्।
स्वतनोरप्यज्ञाने परमार्थस्यापि का वार्त्ता ॥१७॥

यदि असावधानी से यह मनुष्य शरीर वृथाही वीतगया तो फिर पशु आदि चौरासीलाख योनियों में अवश्य चक्कर लगाना पड़ेगा, जिनयोनियों में—अधिक क्या अपने शरीरका भी ज्ञान नहीं होता है कि—मैं कौन हूं, फिर परमार्थ विचार की तो वातही कौन ? अतः पुरुषको यह अलभ्य मानवतनु

पाकर अवश्यही संसारबन्धन से मुक्त होने का उपाय करना चाहिये ॥ १७ ॥

सततं प्रबाह्यमानैर्वृषभैरश्वैः खरैर्गजैर्महिषैः ।
हा कष्टं क्षुत्क्षामैः श्रान्तैर्नो शक्यते वक्तुम् १८॥

जिन वृषभ, अश्व, गर्दभ, हस्ती और भैंसों आदि पशुओं की योनियों में प्राणी, पुरुषों के द्वारा ताड़नापूर्वक चलाये जाते हैं, चाहें उस समय पशु भूँखसे व्याकुल हो, चाहें श्रान्त होगया [थकगया] हो परन्तु स्वामी से कुछ कहनहीं सक्ता है और ताड़ना भोगताहुआ भार उठाता है, हाय! इससे अधिक और कौन कष्ट होसक्ता है ? अतः पुरुषों को उचित है कि—मनुष्यजन्म में कुछ भगवदाराधन करके इन असह्य कष्टों से छुटकारा पावें ॥ १८ ॥

रुधिरास्थिधातुमज्जामेदोमांसादिसंहतिर्देहः ।
स बहिस्त्वचापि नद्धस्तस्मान्नो भक्ष्यते काकैः॥

जिस शरीर का,पुरुष अभिमान करता है, वह विचार दृष्टि से देखो तो रुधिर, अस्थि, धातु, मज्जा, मेद [चर्वी] और मांस आदि का लोंदा है, सो यह,यदि त्वचा [चर्म]से बँधा हुआ न होता तो इसको काकादि ही भक्षण करजाते, ऐसे अनित्य मलपूर्ण अस्पृश्य शरीर का अभिमान करना संसार रूपी कूप में डालनेवाला है, विवेकियों को ऐसा विचार कर सर्वथा अभिमान का त्याग करना चाहिये ॥ १९ ॥

नासाग्राद्वदनाद्वा कफं मलं पायुतो विसृजन् ।
स्वयमेवैति जुगुप्सामन्तः प्रसृतं च नो वेत्ति २०॥

पुरुष नासिका के अग्रभाग और मुख से कफ को तथा

गुदामार्ग से विष्टाको त्यागकर अपने आपही उससे घृणा करता है और यह नहीं जानता कि सकल शरीरमें यही भरा हुआ है अतः शरीर में भी घृणा करके संसारबन्धन से मुक्त होने का उपाय करूँ ॥ २० ॥

पथिपतितमस्थिदृष्ट्वा स्पर्शभयादन्यमार्गतोयाति
नो पश्यति निजदेहमस्थिसहस्राकुलं परितः २१॥

यह मूढ़ मनुष्य, मार्ग में अस्थि [हड्डी] पड़ी हुई देखकर, स्पर्श न होजाय इस भयसे उस मार्ग को त्याग दूसरे मार्ग से जाता है; परन्तु जिस में चारों ओर सहस्रों अस्थियें भररहीं हैं ऐसे इस अपने शरीर को नहीं देखता है अर्थात् इस अपवित्र वस्तुओं के भण्डार शरीर के स्पर्श से बचने के निमित्त भगवदाराधन नहीं करताहै, यह भ्रम नहीं तो और क्या है ?॥

केशावधि च नखाग्रादिदमन्तःपूतिगंधसंपूर्णम् ।
बहिरपि चागुरुचन्दनकर्पूराद्यैर्विलेपयति ॥२२॥

यदि विचारपूर्वक देखाजाय तो यह शरीर केशों से लेकर चरणों के नखोंपर्यंत बाहर और भीतर भी दुर्गन्धियुक्त मलों से भराहुआ है तथापि यह मूढ़ पुरुष इस से प्रेम करता हुआ इसको अगर चन्दन तथा कपूर आदि से चर्चित करता है; क्या दुर्गन्धिके ऊपर सुगन्धि डालना भ्रम नहीं है ? अतः पुरुष को उचित है कि–इस मलागार से मुक्त होने के निमित्त भगवान् के निर्मल दिव्य विग्रह पर चन्दन कर्पूर आदि सुगंधयुक्त पदार्थों को समर्पण करे ॥ २२ ॥

यत्नादस्य पिधत्ते स्वाभाविकदोषसंघातम् ।
औपाधिकगुणनिवहं प्रकाशयन्श्लाघतेमूढः२३

यह माया से भूला हुआ मनुष्य इस शरीर के स्वाभाविक दोषों के समूह को वडे यत्न के साथ ढकता है और वनावटी अनेकों गुणों को दिखाता हुआ अपनी वड़ी प्रशंसा करताहै [परन्तु ध्यान रहे कि—न्यायकर्त्ता ईश्वरके यहां इस असत्य प्रशंसा का अवश्य विषमय फल मिलेगा] ॥ २३ ॥

क्षतमुत्पन्नं देहे यदि न प्रक्षाल्यते त्रिदिनम् ।
तत्रोत्पतन्ति बहवः कृमयो दुर्गन्धसङ्कीर्णाः २४॥

यदि इस शरीर में कोई व्रण होजाय और उसको केवल तीन दिन भी न धोयाजाय तो अनेकों दुर्गन्ध से भरे हुए कीड़े पड़जाते हैं, [ऐसे तुच्छ शरीर के निमित्त अधिक तृ-ष्णा करना किसी प्रकार शुभकारक नहीं है] ॥ २४ ॥

यो देहःसुप्तोऽभूत्सुपुष्पशय्योपशोभिते तल्पे ।
सम्प्रति स रज्जुकाष्ठैर्नियन्त्रितःक्षिप्यतेवह्नौ।२५

जो शरीर जीवकी जीवित दशा में सुन्दर पुष्पोंकी चुनावट से शोभायमान पलङ्गपर शयन करताथा,आज वह रज्जुसे वाँधकर और काष्ठों से दावकर अग्निमें डालाजाता है, [अतः विचार-ना चाहिये कि-एक दिन ऐसी दशाको प्राप्त होनेवाले देह से अधिक प्रेम करना निष्फल है, मनुष्यजन्म पाकर भगवद्भज-न करनाही सारहै ॥ २५ ॥

सिंहासनोपविष्टं दृष्ट्वा मुदमाप लोकोऽयम् ।
तं कालाकृष्टतनुं विलोक्य नेत्रे निमीलयति ।२६।

यह संसार ऐसे मोहमें पड़ाहुआ है कि पहिले जिस समय एक पुरुषको सिंहासनपर वैठाहुआ देखकर परम आनन्दको प्राप्त होता था,आज उसही को मृत्युगत देखकर भयसे नेत्रों

को मूँदताहै, [वास्तवमें इस शरीर के विषैं मरणकालमें भय करने से लाभ नहीं है किंतु यदि जीवित शरीर से ऐसा भय मानकर भगवदाराधनमें चित्त लगायाजाय तो कुछ लाभहो]२६

एवम्विधमतिमलिनं देहं यत्सत्तया चलति ।
तं विस्मृत्य परेशं वहत्यहन्तामनित्येऽस्मिन् २७

इस प्रकारका अतिमलिन यह शरीर जिसकी सत्ता से चलता है, उस परमात्माको भूलकर यह जीव इस अनित्य शरीर में अहङ्कार करता है ॥ २७ ॥

क्वात्मा सच्चिद्रूपः क्वमांसरुधिरादिनिर्मितो देहः ।
इति यो लज्जति धीमानितरशरीरंसकिंमनुते२८

कहाँ सत्य और चैतन्यस्वरूप आत्मा ? तथा कहाँ अनित्य मांस रुधिर आदि अस्पृश्य वस्तुओं से बनाहुआ यह शरीर ? ऐसा विचारकरके जो विवेकी पुरुष इस निजशरीरधारण से भी लज्जित होताहै तो कहो वह अन्य शरीरों को क्या मानताहै ? अर्थात् अन्य शरीरों को अत्यन्तही अस्पृश्य मान,स्त्री पुत्रादि किसीके विषैं भी आसक्ति न करके भगवदाराधन करताहुआ मुक्तिका अधिकारी बनताहै ॥२८॥

इति देहनिन्दा प्रकरणम् ।

अथ विषयनिन्दा—प्रकरणम्.

इच्छां मूढः कुरुते विषयजकर्दमसम्मर्दने मिथ्या।
दुरदृष्टवृष्टिविरसं देहो गेहं पतत्येव ॥ २९ ॥

यह मूढ़ पुरुष विषयों से उत्पन्न हुई कींचको विलोड़नेकी अर्थात् विषयवासनाओंको पूर्ण करनेकी वृथा चेष्टा करता है, क्योंकि जिस समय दुर्भाग्य की वृष्टिहुई उसी समय देह और गेह [स्थान] शिथिल होकर गिरही पड़ता है, अतः थोड़ेकाल रहनेवाले देहके निमित्त अधिक तृष्णा करना निरर्थकहै ॥ २९॥

भार्या रूपविहीना मनसः क्षोभाय जायते पुंसाम्।
अत्यंतं रूपाढ्या सा परपुरुषैर्वशीक्रियते ॥ ३० ॥

जिस स्त्री के प्रेम में फँसकर पुरुष अपने कर्त्तव्य भगवद्भजन को भूलजाता है, वह स्त्री यदि रूप विहीन होय तो विषयी पुरुषोंके मनको दुःखदायक होतीहै और यदि अत्यन्त रूपवती होय तो उसको अनेकों परपुरुष वशमें करनेकी चेष्टा करते हैं, जिससे प्रतिष्ठाभङ्ग आदि अनेकों प्रकारके कष्ट भोगने पड़ते हैं, ऐसा विचारकर पुरुष को उचित है कि अन्य स्त्रीका संसर्ग तो नरकदायकहैही किन्तु निज स्त्री के विषैं भी अधिक आसक्त न होय ॥ ३० ॥

यः कश्चित्परपुरुषो मित्रं भृत्योऽथवा भिक्षुः।
पश्यति हि साभिलाषं विलक्षणोदाररूपवतीम् ॥

यदि अलौकिक अधिक रूपवती स्त्री होती है तो—उस को मित्र, सेवक, तथा भिक्षुक आदि जो कोई भी पुरुष देखताहै वह यही चाहता है कि—यह मेरे वशमें होजाय, [इसका -प

रिणाम यह होता है कि—वह पुरुष उस स्त्री के पति को विष आदि से नष्ट करके उस को वशमें करते हैं, ऐसी अनर्थ की मूल स्त्रियों के निमित्त लालसा करने वालों को निर्बुद्धि नहीं तो क्या कहाजाय ?॥ ३१ ॥

यं कञ्चित् पुरुषवरं स्वभर्त्तुरतिसुन्दरं दृष्ट्वा ।
मृगयति किं न मृगाक्षी मनसेव परस्त्रियं पुरुषः ॥

जिसप्रकार पुरुष रूपवती परस्त्री को प्राप्त करने की इच्छा करता है, ऐसेही अपने पति से अधिक सुन्दर पुरुष को क्या रूपवती स्त्री नहीं खोजती होगी ? ॥ ३२ ॥

एवं स्वरूपनार्या भर्त्ता कोपात्प्रतिक्षणं क्षीणः ।
नो लभते सुखलेशं बलिमिव बलिभुग्बहुष्वेव ॥

जिसप्रकार बहुत से काकों के होनेपर कोई निर्बल काक बलि नहीं पाता है तिसी प्रकार रूपवती स्त्री का पति, उस के कोप से प्रतिक्षण क्षीण [दुःखित] होता हुआ किंचिन्मात्र भी सुख नहीं पाता है ॥ ३३ ॥

वनिता नितान्तमज्ञास्वाज्ञामुल्लंघ्यवर्त्ततेयादिसा
शत्रोरप्यधिकतरा पराभिलाषिणयसौकिमुत ३४

परम मूढ़ स्त्री यदि अपनी आज्ञाको उल्लंघन करके वर्त्ताव करे तो वह शत्रुसे भी अधिक दुःखदायक होती है और यदि परपुरुष की इच्छा करनेवाली होय तब तो कहनाही क्या ? [अर्थात् लज्जावान् के लिये इस का परिणाम प्राणान्तही होता है] ॥ ३४ ॥

लोकोनापुत्रस्यास्तीतिश्रुत्यास्यकःप्रभाषितोलोकः
मुक्तिःसंसरणंवा तदन्यलोकोऽथवानाद्यः ॥३५॥

सर्वेऽपि पुत्रभाजस्तन्मुक्तौ संसृतिर्भवति ।
श्रवणाद्यन्योपाया मृषा भवेयुस्तृतीयेऽपि ॥३६॥
तत्प्राप्त्युपायसत्त्वाद्द्वितीयपक्षोऽप्यपुत्रस्य ।
पुत्रेष्ट्यादिकयागप्रवृत्तये वेदवादोऽयम् ॥३७॥

पुत्रहीनको लोक नहीं प्राप्त होताहै, ऐसा वेद में कहा है, तहां कहते हैं कि-तो पुत्रवान् को कौनलोककी प्राप्ति कहीहै? मुक्ति संसार वा कोई और [स्वर्ग] ? यदि कहो कि-मुक्ति, सो यह कहना तो वन नहींसक्ता क्योंकि जो सकल पुत्रवान् देखनेमें आतेहैं उन को मुक्ति के स्थानमें संसारवन्धनही बढ़ता दीखताहै, और यदि ऐसा किसीप्रकार होभीजाय तो वेदशास्त्रादि कोमें वर्णन करेहुए श्रवण मनन आदि उपाय वृथाभूत होजायँगे। और यदि तीसरा स्वर्गलोक कहो सो उसकी प्राप्ति के निमित्त पुत्रोत्पत्ति के सिवाय और भी अनेकों उपाय लिखे हैं। तथा यदि कहो कि-संसार की प्राप्ति होगी सो यह तो स्वयंसिद्ध विनापुत्र के भी हैही; तहाँ कहते हैं कि-तो क्या यह वेद का कथन मिथ्या है कि विना पुत्र के लोक प्राप्ति नहीं होती है? नहीं, यह वेदकी आज्ञा अर्थवाद है अर्थात्-पुत्रेष्टि आदि के विषै पुरुषों की प्रवृत्ति हो इस कारण वेद में ऐसा कहा है॥ ३५ ॥ ३६ ॥ ३७ ॥

नानाशरीरकष्टैर्धनव्ययैःसाध्यते पुत्रः ।
उत्पन्नमात्रपुत्रे जीवितचिन्ता गरीयसी तत्र ॥

अव पुत्रप्राप्ति में जो कष्ट उठाने पडते हैं तिनका वर्णन करते हैं कि-यदि ईश्वरानुग्रह से पुत्र होगया तो होगया, नहीं तो उसकी प्राप्ति के निमित्त पुरुष शरीर पर अनेकोंकष्ट भोगता

है, वहुत कुछ धनदान आदि करता है, तब यदि अत्युत्कट व्रतदानादि के प्रभाव से पुत्र उत्पन्न भी होगया तो उस जन्मकाल सेही उसके जीवनकी परमचिन्ता आ घेरती है क्यों कि–कोमल शरीर वालककी यदि अधिक सेवा न करीजाय तो उसको प्राणसङ्कट पर्यन्त प्राप्त होजाता है ॥ ३८ ॥

जीवन्नपिकिंमूर्खःप्राज्ञःकिम्वासुशीलभाग्भविता
जारश्चौरः पिशुनः पतितो द्यूतप्रियः क्रूरः ३९ ॥

यदि कर्मभोग के अनुकूल मातापिता की यथोचित सेवा से वालक जीवित रहा और सुशील हुआ तवतो ईश्वरकी कृपा हुई नहीं तो मातापिता को जो दुःख भोगना पड़ता है उसका कहना नहीं वनसक्ता. इस कारण वालककी चार पाँच वर्ष की अवस्था होतेही मातापिता को यह चिन्ता लगी रहती है कि न जाने यह मूर्ख होगा ? या प्रवीण होगा ? या सुशील होगा ? या जार होगा ? वा चोर होगा ? या पिशुन (चुगलखोर) होगा ? या मदिरादि पान करनेवाला पतित होगा ? या ज्वारी होगा ? अथवा क्रूर (हिंसक) होगा ?।

मातृभ्रातृबन्धुघाती मनसः खेदाय जायतेपुत्रः ।
चिंतयतितातनिधनं पुत्रो द्रव्याद्यधीशताहेतोः॥

यदि माता पिता भाई वन्धुको पीड़ा देनेवाला हुआ तो आजन्म मनको खेद दायक होजाता है और यदि पिता धनवान् हुआ तो पुत्र सदा इसी चिन्तवन में रहताहै कि कव अवसर मिले और पिताको विषादि के द्वारा यमलोकको पहुँचा कर धनका स्वामी वनूं ! हा ! आश्चर्य है ऐसे दुःखद पुत्र की प्राप्ति के निमित्त अनेकों कष्ट भोगताहुआ पुरुष, परमानन्द दाता परमेश्वरको भी भूलजाताहै ॥ ४० ॥

सर्वगुणैरुपपन्नः पुत्रः कस्यापि कुत्रचिद्भवति ।
सोऽल्पायू रुग्णो वा ह्यनपत्यो वा तथापि खेदाय ४२

यदि कहोकि—क्या गुणवान् और सुशील पुत्र नहीं होते हैं ? सो ठीकहै परन्तु सकलगुणों से युक्त पुत्र कहीं सहस्रों में किसी एक पुण्यात्मा के होताहै, वह भी यदि अल्पायु वा रोगी अथवा सन्तान हीन हुआ तो मनको खेदही देताहै ॥ ४१ ॥

पुत्रात्सद्गतिरितिचेत्तदपि प्रायोऽस्तियुक्त्यसहम्।
इत्थं शरीरकष्टैर्दुःखं सम्प्रार्थयन्ते मूढैः ॥ ४२ ॥

यदि कहो कि—पुत्रकी उत्पत्तिमात्रसे ही सद्गति मिलजायगी, सोभी ठीक नहीं है, क्योंकि—यदि ध्यान दियाजाय तो चाहें जैसे पुत्र से सद्गति होना युक्तियुक्त नहीं होसक्ता, अतःऐसा परिणाम प्रत्यक्ष होनेपर भी जो ऐसे नाना प्रकारके कष्ट शरीर पर झेलकर परमेश्वरसे पुत्रकी प्रार्थना करते हैं वह मूढ़, मानों परमेश्वरसे दुःख माँगते हैं ॥ ४२ ॥

मातृपितृभ्रातृभगिनीपितृव्यजामातृमुख्यवर्गाणाम्।
मार्गस्थानामिवयुतिरनेकधोनिश्चमारक्षणिका ॥

वास्तव में, जिनमें मग्न होकर पुरुष अपने को अमरसा मानता है, तिन माता, पिता, भ्राता, भगिनी, पितृव्य (ताऊ चचा) और जामाता आदि कुटुम्बियोंका समागम चिरकाल नहींरहेगा किन्तु जिस प्रकार चारों ओर के बटोही रात्रिके समय कुछकाल एकस्थानपर ठहरकर प्रातःकाल होतेही अपने२ मार्गको चलेजातेहैं तिसीप्रकार यह माता पितादि कुटुम्बी अनेकों जन्मों में करेहुए कर्मों के अनुसार कुछकाल इकठे रहकर कर्मभोगरूप रात्रिके व्यतीत होतेही अपने२मार्गको चलेजायँगे,

जो चलाजाता है फिर लौटकर नहीं आता ऐसे किसी समय अवश्य छूटजानेवाले कुटुम्बियोंमें अधिक आसक्त न होकर,सदा अन्तर्यामीरूप से साथ रहनेवाले परमात्मा में मग्न होना दुर्लभ मनुष्यजन्मका अवश्य कर्त्तव्य है ॥ ४३ ॥

देवं यावद्विपुलं यावत्प्रचुरः परोपकारश्च ।
तावत्सर्वे सुहृदो व्यत्ययतः शत्रवः सर्वे ॥४४॥

और जिनको पुरुष अपना मानताहै वहही कुटुम्बी यदि प्रारब्ध बढ़ाहुआहो और जवतक उन के साथ वहुतकुछ उपकार कियाजाय तवहीपर्यन्त मित्र वनेरहतेहैं और यदि पास धन न हो और उनका कुछ प्रयोजन न निकले तो सव शत्रुकी समान वर्त्ताव करनेलगते हैं, इस परिणामको विचारकर पुरुष को योग्य है कि—अपने प्रयोजन के निमित्त वनावटी मित्र जो कुटुम्वी तिनसे चित्तको हटाकर सदा एकरस सच्चे मित्र परमात्मामें लगावे ॥ ४४ ॥

अश्नन्तिचेदनुदिनंवन्दिनइववर्णयन्ति सन्तृप्ताः
तच्चेद्द्वित्रिदिनान्तरमभिनिन्दन्तःप्रकुप्यन्ति ॥

कुटुम्वियोंकी औरभी दशा ध्यान देनेयोग्य है, वह यह कि—यदि प्रतिदिन भोजन पातेरहें तव तो तृप्त होकर वन्दियों (भाटों) की समान प्रशंसा करते फिरते हैं और कहीं किसी समय दो तीन दिन उनके निमित्त भोजन न वनपड़ा तो सर्वत्र निन्दा करते फिरते हैं और परम कोप करते हैं; ऐसे स्वार्थियों में आसक्त होकर ईश्वर का स्मरण न करना क्या मनुष्यका भ्रम नहीं है ? ॥ ४५ ॥

दुर्भरजठरनिमित्तं समुपार्जयितुंप्रवर्त्ततेचित्तम् ।
लब्धावधिबहुवित्तं तथाप्यलभ्यंकपर्दिकामात्रम्॥

यह उदर ऐसा अथाह है कि—आजन्म नानाप्रकार के पदार्थ भोजन करो कभी यह तृप्तही नहींहोता, अतएव पुरुष इस उदरके निमित्त लक्षों पर्यंत वहुतसा द्रव्य इकट्ठा करनेको अनेकों यत्न करता है परन्तु दैव प्रतिकूल होनेके कारण एक कपर्दिका (कौड़ी) भी नहीं मिलती, अब विचारना चाहिये कि—जिसकी कभी पूर्त्तिनहीं होती उसको पूर्णकरनेके निमित्त, और जो विना प्रारब्धके मिलनहींसक्ता उसको पानेके निमित्त वृथा यत्नकरना मनुष्यका भ्रम है या नहीं ?, वास्तव में पुरुषको योग्य है कि—मानवशरीर को पाकर परमेश्वरका भजन करे, धनादि सम्पदा जो कुछ प्राप्त होनेवाली होगी वह साधारण यत्नसेभी प्राप्त होहीजायगी ॥ ४६ ॥

लब्धश्चेदधिकोऽर्थः पण्यादीनां भवेत्सार्थः ।
नृपचौरतोऽप्यनर्थस्तस्माद्द्रव्योद्यमोऽव्यर्थः ॥४७

और यदि प्रारब्ध अनुकूल होनेसे वहुतसा धन मिलभी गया तो उसको भोगनेके निमित्त अनेकों वस्तुएँ खरीदकर इकट्ठी करीजायँगी, ऐसा होनेपर एक और विपत्ति प्राप्त होगी क्योंकि—अधिक सम्पदा देख राजा चाहेगा कि—मैंही किसी प्रकार लेलूँ और चोर चाहेंगे कि—कब अवसर मिले और चोरीकरें; परिणाममें यदि राजाने लेलिया अथवा चोरोंने चुरालिया तो वह इकट्ठा करने में, कराहुआ यत्न व्यर्थ हुआ और चित्तको खेदभी हुआ. अतः मनुष्यको उचित है कि-अधिक धन प्राप्तिमें चित्त न लगाकर, जिसको कोई छीनही न सके ऐसे परमेश्वररूप अविनाशी रत्नको पानेका यत्नकरे ४७

अन्यायमर्थभाजं पश्यति भूपोऽध्वगामिनंचौरः।
पिशुनाद्व्यसनप्राप्तिर्दायादानां गणः कलहम् ।४८

धनवान् को औरभी अनेकों कष्टभोगने पड़ते हैं, जैसोकि-राजा धनवान्को अन्याय दृष्टिसे देखताहै, यदि राजा के भय से कहींको जायतो मार्गमें चोर कष्ट देते हैं,यदि धनको छिपाकर रक्खे तो चुगलखोर आपत्ति प्राप्त करदेताहै और सकल कुटुम्बी तो सदा कलह रखतेही हैं ॥ ४८ ॥

पातकभरैरनेकैरर्थं समुपार्जयन्ति राजानः ।
अश्वमतङ्गजहेतोः प्रतिक्षणं नाश्यते सोऽर्थः ॥४९॥

यदि कहो कि-राजाको तो किसीका भय नहीं होता है ? तहाँ कहते हैं कि-राजाभी जिन अनेकों अनर्थों से धन इकट्ठा करते हैं, उनका फल नरकगति देता है, और वह इकट्ठा कियाहुआ धन वृथा प्रतिक्षण घोड़े हाथी आदिकेही निमित्त नष्ट होता रहता है, राजा तो वही पावभर खाता है, वही पांचगज पहिनता है और वही आधी खाटपर सोता है, केवल धन इकट्ठा करनेमें पापकी गठरीही अधिक बांधलेता है, जिसके कारण अनेकों जन्मोंमें नानाप्रकारके कष्ट भोगने को शास्त्र वर्णन करता है, निष्कर्ष यह है कि-धनादि विषयों में अधिक लिप्त होना सर्वथा अनर्थका मूल है ॥ ४९ ॥

राज्यांतराभिगमनाद्रणभङ्गान्मन्त्रिभृत्यदोषाद्वा
विषशस्त्रमन्त्रघातान्मग्नाश्चिन्तार्णवे भूपाः ॥५०॥

परलोककी वार्त्ता तो है सो हैही यदि राजा सर्वथा सदाचरण हो तो उसकोभी इस दुःखमय संसारमें कभी सुख नहीं प्राप्त होसक्ता, क्योंकि-राजे सदा, अन्य देशोंपर चढ़ाई करना, संग्राम में पराजय होना, मन्त्रीका प्रबल होजाना वा किसी भृत्यका चित्त के प्रतिकूल कार्य करडालना, इन कारणों से तथा कोई विष न देदेय, शस्त्र से प्राणान्त न करदेय वा

मन्त्रप्रयोग से कष्ट न देय इत्यादि कारणोंसे चिन्तारूपी स-मुद्रमें डूबेरहते हैं, साधारण पुरुष समझते हैं कि राजाको बड़ो सुख होताहै, परन्तु वास्तव में साधारण दरिद्रीसे लेकर राजा महाराजा पर्यन्त सबही चिन्ता में मग्न रहते हैं, इस जगत् में ईश्वरभक्ति को छोड़ कहीं सुख नहीं है ॥ ५० ॥

इति विषयनिन्दा प्रकरणम् ॥

अथ मनोनिन्दाप्रकरणम् ।

हसति कदाचिद्रौति भ्रान्तंसद्दशदिशोभ्रमति ।
हृष्टं कदापि रुष्ट शिष्टं दुष्टञ्च निन्दतिस्तौति ५१
क्वमपिद्वेष्टि सरोषं ह्यात्मानं श्लाघतेकदाचिदपि ।
चित्तं पिशाचमभवद्राक्षस्या तृष्णयाऽश्रितम् ५२

यह चित्त राक्षसी तृष्णासे व्याप्त हो पिशाचरूप होकर कभी हँसता है, कभी रोता है, कभी भ्रम में पडकर दशोंदिशाओं में चक्करलगाता है, कभी प्रसन्न हुआ तो दुष्टकी भी प्रशंसा करने लगता है और रुष्टहोकर शिष्ट [सदाचरण] पुरुष की भी निन्दा करता है, किसी से क्रोध में होकर द्वेष करता है और कभी अपनी ही प्रशंसा करनेलगता है॥ ५१ ॥ ५२ ॥

दम्भाभिमानलोभैः कामक्रोधोरुमत्सरैश्चेतः ।
आकृष्यतेसमन्तात्श्वभिरभिपतितास्थिवन्मार्गे

जिसप्रकार मार्ग में पड़ी हुई अस्थि [हड्डी] को श्वान चारों ओर से खैंचते हैं, तिसीप्रकार दम्भ, अभिमान, लोभ काम, क्रोध, डाह आदि चित्तको अपनी २ ओर को खैंचतेहैं ५३

तस्माच्छुद्धाविरागोमनोऽभिलाषितंत्यजेदर्थम् ।

तदनभिलषितं कुर्यान्निर्व्यापारं ततो भवति ५४॥

तिसकारण जिसको संसारबन्धन से बचकर शुद्ध विरागकी इच्छा हो वह मनकी अभिलाषाओं को त्यागे, क्योंकि–मन के विना व्यापाररहित हुए संसारसे छुटकारा नहीं होसक्ता और अभिलाषाओं को विनात्यागे मन निर्व्यापार नहीं होसक्ता ॥ ५४ ॥

इति मनोनिन्दाप्रकरणम् ।

अथ विषयनिग्रहप्रकरणम् ।

संसृतिपारावारेऽगाधे विषयोदकेन सम्पूर्णे ।
नृशरीरमम्बुतरणं कर्मसमीरैरितस्ततश्चरति ५५

यह संसार ऐसा समुद्र है कि–जिसके ओर छोर का पता नहीं लगसक्ता, और नाना प्रकार के विषयरूप अथाह जल से भरा हुआ है, इस में पड़ी हुई मानवशरीर रूप नौका कर्म रूपी पवनके झोंकों से इधर उधरको डगमगारही है ॥ ५५ ॥

छिद्रैर्नवभिरुपेतं जीवो नौकापतिर्महानलसः ।
छिद्राणामनिरोधाज्जलपरिपूर्णं पतत्यधःसततम्

तिस शरीररूप नौकामें नौछिद्र (दोनों नेत्र, दोनों कर्ण, दो नासिका के छिद्र, मुख, गुदा, मूत्रद्वार) हैं, उस नौकाका स्वामी महा आलसी जीवहै, जब आलसके वश में होकर छिद्रोंको नहीं रोकाजाताहै तबही यह शरीररूप नौका विषय भोगरूप जलसे भरकर संसारसागर में डूब नीचे(नीच योनियों में)बैठजातीहै, अतः प्राणीको योग्य है कि–शरीर के पूर्वोक्त छिद्रोंको रोकनेका अर्थात् इन्द्रियोंको वशमें करने का उद्योग करे ॥ ५६ ॥

छिद्राणान्तु निरोधात्सुखेन पारं परं याति ।
तस्मादिन्द्रियनिग्रहमृते न कश्चित्तरत्यनृतम् ५७

क्योंकि—उन छिद्रोंको रोकने से यह प्राणी आनन्दपूर्वक संसार समुद्र के परले पार पहुँचजाताहै, और यदि छिद्रों को नहीं रोकेगा अर्थात् इन्द्रियों के विषयभोगकी तृष्णाको नहीं शान्त रक्खेगा तो कोई भी हो, इस मोहित करनेवाले मिथ्या रूप संसारके पार नहीं होसकेगा अतः पुरुषको योग्य है कि—इन इन्द्रियों को वशमें करनेका यत्न करे नहीं तो यह क्षणिक विषयसुख नित्यसुखरूप ब्रह्मानन्दसे विमुख रखकर न जाने कबतक चौरासी की फाँसी में फँसाये रहेंगे ॥ ५७ ॥

पश्यतिपरस्ययुवतिं सकाममपितन्मनोरथंकुरुते
ज्ञात्वैवं तदप्राप्तिं व्यर्थं मनुजोऽपिपापभाग्भवति॥

यह विषयवासनारूप पिशाचीसे ग्रसाहुआ पुरुष परपुरुष की स्त्रीको देखतेही कामके वशीभूत हो उसके पानेका मनोरथ करने लगताहै; यह जानताहै कि—उसका प्राप्त होना कठिन है, तथापि चित्तको मलिनकर पापका भागी होताहै ॥५८॥

पैशुन्यैःप्रकाममुदितांपरस्यनिन्दांशृणोतिकर्णाभ्याम्।
श्रवणपरःकिंम्रियतेव्यर्थंमनुजोऽपिपापभाग्भवति।

कोई कर्णका विषयी पुरुष अवश्यकर्त्तव्य भगवद्भजनको भूलकर पिशुन (चुगल) जनों की कहीहुई अन्य पुरुषकी निन्दाको कानों से सुनता है; तिससे उस परपुरुषके क्या प्राण जातेरहते हैं ? अर्थात् उसके चित्तको किञ्चिन्मात्र भी पीड़ा नहीं होती केवल सुननेवालाही पापका भागी होजाताहै ॥

परापवादमनृतं रसना वदति प्रतिक्षणं तेन ।

परहानिर्लाभधःकाऽर्थमनुजोऽपिपापभागभवी

भगवद्भजन को त्याग वृथा बकवाद करनेवाले पुरुषकी जिह्वा जो प्रतिक्षण पराई निन्दा वा मिथ्याभाषण करती है, उससे दूसरे की क्या हानि वा क्या लाभ है ? अर्थात् कुछ नहीं है, केवल वृथा निन्दा करनेवाला पुरुषही निष्प्रयोजन दोष का भागी वनता है ॥ ६० ॥

विषयेन्द्रिययोर्योगे निमेषसमयेन यत्सुखंभवा
विषय नष्ट दुःखं यावज्जीवं च तत्तयोर्मध्ये॥६१

विषय और इन्द्रिय का संयोग होनेपर अर्थात् नासिका के साथ गन्ध का नेत्रों से साथ रूपका, कर्णों के साथ गान का और जिह्वा के साथ मधुरतिक्तादि रसका इसी प्रकार अन्य इन्द्रिय के साथ अन्य विषय का संयोग होनेपर पल भरको जो सुख होता है, वहही, विषयके नष्ट होनेपर जीवन भरको दुःखरूप होजाता है, अतः पुरुष को योग्य है कि-परिणाम में दुःख देनेवाले क्षणिक विषय सुख से मुख मोड़ नित्य सुखरूप परमेश्वर के विषैं चित्तको लगावे ॥ ६१ ॥

हेयमुपादेयमथा प्रविचार्य सुनिश्चितं तस्मात् ।
अल्पसुखस्य त्यागादनल्पदुःखजहाति सुधीः६

इस कारण विवेकी पुरुष, ज्ञानदृष्टि करके, विषयासक्ति त्यागने योग्य है और भगवद्भक्ति ग्रहण करने के योग्य है, ऐसा निश्चयरूप से विचारकर क्षणिक सुखको त्याग चिरकाल के निमित्त महान् दुःखाग्नि से मुक्त होजाता है ॥ ६२ ॥

धीवरदत्तामहामिषमश्नन्वै सारिका म्रियते ।
तद्वद्विषयान् भुंजन् कालाकृष्टो नरः पतति६३॥

जैसे व्याध के दियेहुए मांस के लोभ में आ उसको भ-

क्षण करतेही सारिका अपने प्राणों को खोबैठती है, तैसेही
इस संसार में मनुष्य क्षणिक सुखके लोभवश, विषयों में आ-
सक्त हो कालके वशीभूत होकर प्राणों को त्यागदेता है और
फिर नीच योनियों में जाकर पड़ता है ॥ ६३ ॥

उरगग्रस्तार्धतनुर्भेको श्नातीह मक्षिकाःशतशः।
एवंगतायुरपिसन्विषयान्समुपार्जयत्यन्धः॥६४॥

देखो–जिस प्रकार सर्प, भेक (मेंडक) को पृष्ठभाग की
ओर से आधा निगलजाय तब भी वह भेक, सर्पके निगलने से
बचेहुए अपने मुखको फैलाकर सैकड़ों मक्षिकाओं (मक्खियों)
का भक्षण करजाताहै और यह नहीं जानता कि मुझको ही
सर्प भक्षण कररहाहै क्षणभरमें मेरा नाममात्रभी नहीं रहेगा
इसी प्रकार यह मनुष्य ज्यों२ अधिक अवस्थावाला होता
अर्थात् जैसे२ इस की आयु बीतती है त्यों२ काल क्रमसे
उस को ग्रसता चलाजाता है तथापि इसकी विषयभोगकी तृष्णा
बढ़तीहीजाती है, जिससे कि अपने को अमरसा समझताहुआ
अनेकों विषयसुखकी सामग्रियें इकठ्ठी करताहै और यह नहीं
जानता कि–प्रतिदिन काल मुझको ग्रसरहा है और अल्पका
लमें ही मैं काल के गालमें चलाजाऊँगा तथा यह सामग्रियें यहीं
रहजायँगी, ऐसे अविवेकी पुरुषको अन्धा नहीं तो और क्या
कहाजाय ? ६४ ॥

इति विषयनिग्रह प्रकरणम् ॥

अथ वैराग्यप्रकरणम् ।

श्रीर्योद्रमात्तोयवहा सागरमुपयातिनीचमार्गेण
साचदुद्रुमएवास्थिरासतीकिंनशातिवार्द्धिस्त्वम्॥

जिसप्रकार कोई नदी अपने उत्पन्न होनेके स्थानसे नी को वहतीहुई समुद्रमेंको चलीजाती है, यदि वह अपने उत्पत्ति स्थानमेंही स्थिररहे तो क्या वह समुद्ररूप नहीं होजाय ? अवश्य होजाय ॥ ६६ ॥

एवंमनःस्वहेतुंविचारयन् सुस्थिरंभवेदन्तः ।
न बहिर्वोदेति तदा किन्नात्मत्वं स्वयं याति ॥६६

इसही प्रकार मन अपने हेतु आत्माका विचारकरताहुआ भीतरही स्थिर रहे और सङ्कल्प विकल्पों के प्रवाहरूप से बाहरको न आवे तो क्या आत्मस्वरूपको नहीं प्राप्त होजाय ? अर्थात् निःसंदेह आत्मस्वरूप में लीन होजाय ॥ ६९ ॥

वर्षास्वम्भःप्रचयात्कूपे गुरुनिर्झरे पयः क्षारम् ।
ग्रीष्मेशोषतच्छुष्के माधुर्यं भजति तत्राम्भः॥६७
तद्वद्विषयोद्रिक्तं तमःप्रधानं मनःकलुषम् ।
तस्मिन् विरागशुष्के शनकैराविर्भवेत्सूत्रम् ।६८

वर्षाओंका जल भरजाने से बड़े२ सोतोंवाले कूपोंमेंका जल भी खारी होजाता है. और ग्रीष्मऋतुमें सूखनेपर वही कूपका जल मीठा होजाता है. इसीप्रकार विषयोंके भोगमें अधिक लगा हुआ मन अधिक तमोगुणी तथा मलिन होजाता है और यदि उस मनको विषयोंमें आसक्त न करके विरागके द्वारा शुष्क (शान्त-सत्वगुणी) करदियाजाय तो उसमें धीरे२ परमात्मा का आविर्भाव (प्रकाश) होता है, जिससे कि-प्राणी फिर संसारसागर में नहीं पड़ता ॥ ६७ ॥ ६८ ॥

यं विषयमभिलषित्वा धावति बाह्येन्द्रियद्वारा ।
तस्याप्राप्तौखिद्यतितथा यथा स्वंगतं किंचित् ६९

यह वास्तविक सुखके स्वरूपको न जानने वाला अज्ञ मन जिस विषय को पानेकी इच्छा करके नेत्र कर्ण आदि वाहरी इन्द्रियों के द्वारा वाहर को दौड़ता है, वह विषय यदि न मिले तो ऐसा खेद मानता है मानो इसका कुछ इकट्ठा करा हुआ धन जातारहा, परन्तु सर्वस्वधन परमेश्वर की ओर कदापि ध्यान नहीं देता, यह भ्रांति नहीं तो क्या है? ॥६९॥

नगनगरदुर्गदुर्गमसरितःपरितःपरिभ्रमच्चेतः ।
यदिनोलभतेविषयंविषयन्त्रितमेवखिन्नमायाति

यह प्राणीका मन, अज्ञानरूप अन्धकार से ज्योतिहीन होकर इच्छित पदार्थको पानेकी इच्छा के वशीभूत हो, पर्वत नगर, वन और अगम्य नदियोंके चारों ओर भ्रमने को जाता है और यदि वह इच्छित वस्तु न मिले तो ऐसा खिन्न होताहै जैसे कोई विषैले जन्तुका डसाहुआपुरुष विह्वल होताहै

तुम्बीफलं जलान्तर्बलादधःक्षिप्तमप्युपैत्यूर्ध्वम् ।
तद्वन्मनः स्वरूपे निहितं यत्नाद्बहिर्याति ७१॥

जिसप्रकार तुम्बी को कैसेही जल के नीचे डालो परन्तु वह जलके भीतर न रहकर बलपूर्वक जल के ऊपर कोही चली आती है तिसीप्रकार यह मन भी है, इस को कैसेही यत्नके साथ रोककर आत्मस्वरूप में लगाओ परन्तु यह वाहर को आकर विषयों के प्रवाह मेंही पैरनेलगता है, गीता में अर्जुन ने भगवान् से कहा भीहै कि—"चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद् दृढं। तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम् ॥" अर्थात्—अर्जुन कहते हैं कि—हे कृष्ण! यह चञ्चल मन, शरीर और इन्द्रियों को विक्षेप देनेवाला, बलवान् और अनादि-काल की वासनाओं से दृढ बँधाहुआहै इस कारण मैं इसको

वशमें करना वायुकोरोकने की समान दुष्कर समझताहूँ ७१।

इह वा पूर्वभवे वा स्वकर्मणोपार्जितं फलं तद्वत्।
शुभमशुभम्वा तत्तद्भोगोप्यप्रार्थितोभवति ७२।

इस जन्म या पूर्वजन्म में अपने मनकी वासनाके अनुसा करेहुए कर्मों के सञ्चय के अनुकूल ही फलभोगना पड़ता इसकारण शुभ अशुभ जो कुछ भोग है वह विना प्रार्थन अर्थात् विना मानसिक सङ्कल्पके भी प्राक्तनकर्मानुसार प्रा होगा और प्राणीको भोगनाही पडेगा अतः जिस मनके का रण प्राणीको परवश होकर शुभ और अशुभ भोगने के निमि जगज्जाल में फँसना पड़ता है तिसमनको जैसे होसके,शान करनेका उपाय करना चाहिये ॥ ७२ ॥

चेतः शुभमशुभम्वा प्रधावमानं निराकर्तुम्
वैराग्यमेकमुचितं गलकाष्ठं निर्मितं धात्रा ॥७३॥

सो यद्यपि इस मनको वशमें करना परम दुष्कर है तथापि शुभ अशुभ वासनाओंमेंको दौड़नेवाले, इसमनको वशमें क रनेके निमित्त विधाताने, एक वैराग्यरूप उसके गलेमें डाल का काष्ठ ठीकही रचा है, जिसके प्रभाव से प्राणी मनके वश भूत नहीं रहता किन्तु मन प्राणी के वश में होजाता है औ फिर संसार की असह्य पीड़ा नहीं भोगनी पड़तीं ॥७३॥

निद्रावसरे यत्सुखमेतत्किं विषयजं यस्मात्।
निरिन्द्रियप्रदेशावस्थानं चेतसो निद्रा ॥ ७४

जिसप्रकार निद्राके समय जो सुख होताहै वह क्या वि भोगजनित होता है ? किन्तु नहीं, जब पुरुष घोर निद्रा सोकर उठता है तो कहता है "सुखमहमस्वाप्सं न किञ्चि द्वेदिषम्" अर्थात् मैं सुख से सोया और मैंने कुछ

जाना कि–मैं कहाँ हूँ और संसार क्या है ? इसी प्रकार जिस पुरुषको सुख प्राप्ति की इच्छा हो वह चित्त की निद्रालेय अर्थात् वैराग्य का साधन करता, हुआ: चित्तको इन्द्रियों के द्वारा वाहर जाकर जो विषय भोग करना, तिस से हटाकर जहाँ इन्द्रियों की गति नहीं उस परमात्मा के विषैं लगाकर स्थिर करे. जिससे यह चित्त संसारवन्धनका कारण नहीं हो और परम सुख भी देय ॥ ७४ ॥

अद्वारतुङ्गकुड्ये गृहे निरुद्धो यथा व्याघ्रः ।
बहुनिर्गमप्रयत्नैःश्रान्तस्तिष्ठति पतन् श्वसंश्चापि॥

जिस प्रकार विना द्वारकी ऊँची २ दीवारोंवाले स्थान में वन्द कराहुआ व्याघ्र निकलनेको अनेकों उपाय करताहै परंतु कूद२ कर गिरपड़ता है इस प्रकार वहुत कुछ निकलनेकी चेष्टा से श्रान्त होकर विवश पड़ाहुआ दीर्घ श्वासें लेने लगता है ७५

सर्वेन्द्रियावरोधाद्योगशतेनाप्यनिर्गमं वीक्ष्य ।
श्रान्तं तिष्ठति चेतो निरुद्यमत्वं तदा याति॥७६॥

तिसी प्रकार वैराग्यके द्वारा सकल इन्द्रियोंको वशमें करनाही जो दुर्भेद्य स्थानतिसमें रोकाहुआ मनसैकड़ों उपायोंसेभी वाहर को जानेका सुभीता न देखकर श्रान्तहो स्थिर होजाताहै और फिर कुछ उद्योग भी नहीं करता है, तव साधकका शरीररूप वन मनरूप व्याघ्रके भयसे रहित होकर मुक्तिके साधन का निर्विघ्न स्थान होजाता है ॥ ७६ ॥

प्राणस्पन्दनिरोधात्सत्सङ्गाद्वासनात्यागात् ।
हरिचरणभक्तियोगान्मनःस्ववेगं जहाति शनैः ॥

अब इन्द्रियोंके द्वारा भोगासक्त होनारूप मन के वेग को

शान्त करनेका उपाय कहते हैं कि—प्राणस्पन्द का निरोध (प्राणायामादि करना), भगवद्भक्तसज्जनोंका सङ्ग, विषयभोग की वासनाओंका त्याग और श्रीहरि के चरणों में भक्ति करने से मन अपने वेगको शनैः२ (धीरे२) त्याग देता है ॥ ७७ ॥

इति मनोनिग्रह प्रकरणम् ॥

अथ वैराग्यप्रकरणम् ।

परगृहगृहिणीपुत्रद्रविणागमे विनाशे वा ।
कथितौ हर्षविषादौ किमथा स्यातां क्षणं स्थातुः

पराया स्थान मिलजाने से, विवाह के द्वारा स्त्री प्राप्त होने से, पुत्र उत्पन्न होने से और अनायास अधिक धन मिलजाने से, जो हर्ष होता है तथा अपना स्थान छिनजानेसे स्त्री पुत्रादिका मरण होने से और धनका नाश होनेसे जो दुःख होताहै वह अज्ञानीको होताहै क्योंकि—वह अज्ञान से अन्ध हुआ यह जानता है कि—मैं सदा इसदेहसेही संसारमें रहूँगा परन्तु जो विवेकी हैं और यह समझते हैं कि यह संसार क्षणिक है केवल कर्मभोग के निमित्तही कुछकाल को यह हमारा स्थूल शरीर विद्यमान है, कुछकाल में ही कर्मभोगके अनुकूल सकल धन जनादिको त्याग करना पड़ेगा, तिन विवेकी पुरुष को धन जनादिकी प्राप्तिसे न कुछ हर्ष होताहै और न नाश से दुःख होताहै ॥ ७८ ॥

दैवात्स्थितं गतम्वापि किञ्चिद्विषयं ह्यनल्पमल्पम्वा ।
नोतुष्यन्नवसीदन्वीक्ष्य गृहस्त्वतिथिवन्निवसेत्

दैवसे कोई धनजनादि विषय (पदार्थ) थोड़ा वा अधिक मि जाय वा नष्ट होजाय तो उसहानिलाभको देखकर पुरुष ह

से दुःख और लाभसे सन्तोष न माने क्योंकि-इन प्राकृत पदार्थों का तो यह स्वभावहीहै, कि-यह क्षणिक होनेके कारण कहीं निरन्तर रहही नहीं सक्ते अतः पुरुष को योग्यहै कि जिसप्रकार अतिथि जहाँजाताहै तहाँ उदरपूर्त्ति रूप निर्वाह मात्र करकै चलाजाता है किसी वस्तुपर अपना स्वत्व नहीं समझता है तैसेही इस ग्रहस्थ में अतिथि की समान रहकर शरीरयात्रा का निर्वाह करताहुआ भगवद्भजनमें तत्पर रहे ॥ ७९ ॥

विषयाणां वैरस्याद्यस्त्यागवान् भवेत्स वरः ।
उपदेशात्स च मध्यः स्मशानवैराग्यतो हीनः॥८०

जो पुरुष विषयोंकी अनित्यता को देख आसक्तिको त्याग देताहै वह उत्तम है और जिसको किसीके उपदेशसे विषयों से वैराग्य होताहै वह मध्यमहै तथा जोस्मशानमें जाय मनुष्य शरीर के परिणामको देखकर विषयतृष्णा से विरक्त होताहै वह नीचहै ॥ ८० ॥

ममताभिमानशून्यो विषयेषु पराङ्मुखः पुरुषः।
तिष्ठन्नपि निजसदने न बाध्यते कर्मभिः क्वापि॥८१

जो पुरुष ममता और अभिमान से शून्य है तथा विषयभोगोंकी तृष्णा से बचाहुआ है वह गृहस्थ में रहकर भी कर्मों के बन्धन में नहीं पड़ता है क्योंकि बन्धनका कारण तो आसक्ति रूप ममता और अभिमानही हैं यदि यह दोनों नहीं तो पुरुष की दृष्टि में जैसा घरहै वैसाही वन है। कहाभी है—"वनेऽपि दोषाः प्रभवन्ति रागिणां गृहेऽपि पञ्चेन्द्रियनिग्रहस्तपः" अर्थात् रागी कहिये विषयों में ममता अभिमान करनेवाले पुरुषों को वन में भी दोष (चित्त चलायमान होकर भगवद्भजनमें न लगना

आदि) होते हैं और जिन्हो ने इन्द्रियों का जय कियाहै उनके गृह में भी तप है ॥ ८१ ॥

कुत्राप्यरण्यदेशे सुनीलतृणबालुकोपचिते ।
शीतलतरुतलभूमौ सुखं शयानस्य पुरुषस्य ८२
तरवःपक्कफलाढ्याः सुगन्धशीतानिलाःपरितः
कलकूजितवरविहगाःसरितो मित्राणि किन्न स्युः

जहाँ वृक्षों की शीतल छाया में सुन्दर हरी२ दूर्वा और वालुकाहै ऐसी कहीं वनकी भूमि में सुख से शयन करनेवाले पुरुष के, पकेहुए फलोंसे पूर्णवृक्ष, चारों ओर को वहनेवाले सुगान्धित शीतल पवन और जहाँ हंससारस आदि श्रेष्ठ पक्षी मधुरशब्द कररहे हैं ऐसी नदियें, क्या यह सब मित्र नहीं होते हैं ? अर्थात् जो विषयतृष्णासे विरक्तहै उसको इस प्रकारका वनही सुखप्राप्तिका स्थान है और तरु पवन नदियें ही उन के मित्र हैं ॥ ८२ ॥ ८३ ॥

वैराग्यभागभाजः प्रसन्नमनसो निराशस्य ।
अप्रार्थितफलभोक्तुःपुंसो जननी कृतार्था स्यात्

जिस जननी के तीनचारपुत्र हों और वह परस्पर सम्पत्ति का विभाग करलें तो उनमें जो अधिक सम्पन्न हो उससे जननी कृतार्थनहीं होतीहै किन्तु जिसने वैराग्य (विषयतृष्णा का त्यागरूप) भागलिया औरप्रसन्नमनसे सकल आशाओं का त्याग प्रारब्धानुकूल स्वयंसिद्ध जो धनजनादिरूप कर्मफलप्राप्त हो उसकोही आसक्ति रहित होकर भोगा,उस पुत्र सेही उसके पुत्रोपन्न करने की सफलताहै क्योंकि वह कुलका दीपकहै८४

द्रव्यंघस्त्रवतश्च्युतं यदिभवेत्क्वापि प्रमादात्तदा
शोकायाथ तदर्पितं श्रुतवते तोषाय च श्रेयसे

स्थातंऽस्माद्विषयाः प्रयांतियदमीशोकायतेस्युश्चिरं
सन्त्यक्ताःस्वयमेव चेत्सुखमयंनिःश्रेयसंतन्वते ॥

यदि किसी समय पुरुष की कोई वस्तु लेजाते समय प्रमाद के कारण पत्ते में से गिरपडती है तो वड़ा शोक होता है, परन्तु वही वस्तु यदि अपने हाथ से किसी शास्त्रज्ञ सज्जन को देदीजाय तो चित्तको सन्तोष रहता है और परलोक में भी कल्याण होता है, इससे सिद्ध हुआ कि—यह विषय (नाना प्रकार की भोगकी सामग्री) यदि अपने आप स्वतन्त्रता से चलेजाते हैं तवतो पुरुषको चिरकालतक शोक दायकहोते हैं और यदि पुरुष स्वयंही इन की अनित्यता पर ध्यानदेके इनको किसी उचित उपाय से त्यागदेय तो सुखमय निःश्रेयस (मुक्ति) की प्राप्ति होती है तात्पर्य यह है कि इन धन यौवनादि से किसी न किसी समय वियोग अवश्य होगा, यदि यह कर्मानुसार स्वयं त्याग गये तो वड़ा दुःख और शोक होगा अतः कल्याण चाहनेवाले पुरुष को योग्य है कि—इन विषयों को स्वयंही उचितरीति से त्यागदेय जिससे चित्तको सन्तोष हो और परलोक में शुभगति हो ॥ ८९ ॥

विस्मृत्यात्मनिवासमुत्कटभवाटव्यांचिरंपर्यटन्
सन्तापत्रयदीर्घदावदहनज्वालावलीव्याकुलः ।
वल्गन् फल्गुसुखं प्रदीप्तनयनश्चेतःकुरङ्गो बला-
दाशापाशवशीकृतोऽपिविषयव्याधैर्मृषाहन्यते॥

मनरूप मृग, तुच्छ सुखको खोजाता हुआ, अपने निवासस्थान भगवच्चरणों को भूलकर भयङ्कर संसारवन में चिरकालतक भ्रमता हुआ, आध्यात्मिक आदि तापत्रयरूपमहान दावानल की लपटों से व्याकुल होकर नेत्र फैलाय इधर उधर

भटकता हुआ आशारूपी फाँसी में फँसकर विषयरूप व्याधे करके वृथा माराजाता है ॥ ८६ ॥

इति वैराग्यप्रकरणम्.

अथ आत्मसिद्धिप्रकरणम् ।

उत्पन्नेऽपि विरागे विना प्रबोधं सुखं न स्यात् ।
स भवेद्गुरूपदेशात्तस्माद्गुरुमाश्रयेत्प्रथमम् ॥

यदि किसी पुरुषको किसी प्रकार वैराग्यकी प्राप्ति होजाय तब भी विना ज्ञान के सुख नहीं मिलसक्ता, वह ज्ञान गुरु के उपदेशसे प्राप्तहोताहै अतः योग्य गुरुकी शरण लेय ॥८७॥

यद्यपिजलधेरुदकं यद्यपि वा प्रेरकोऽनिलस्तत्र ।
तदपि पिपासाकुलितःप्रतीक्षते चातको मेघम्॥८८॥

यद्यपि जल समुद्रका होताहै और यद्यपि उस जलका प्रेरण करनेवाला वायु होता है तथापि तृष्णा से आकुल हुआ चातक मेघकी प्रतीक्षा करता [बाटदेखता] है और बिना मेघ के उस का मनोरथ सिद्ध भी नहीं होसक्ता तिसी प्रकार ज्ञान आत्म स्वरूपका है और उसको प्रकाशित करनेवाले भी औरही साधन हैं तथापि मुमुक्षु पुरुषको गुरु की शरण में जाना चाहिये क्योंकि वह उसके तत्वको जाननेवाले हैं ॥ ८८ ॥

त्रेधा प्रतीतिरुक्ता शास्त्राद्गुरुतस्तथात्मनस्तत्र ।
शास्त्रप्रतीतिरादौ यद्वन्मधुरोगुडोस्तीति ॥८९॥

प्रतीत कहिये वस्तुका ज्ञान तीन प्रकारका होताहै एक शास्त्र से दूसरा गुरु से और तीसरा अपने अनुभव से, शास्त्र से जो प्रथम प्रतीति होती है वह इस प्रकारहै कि जैसे कोई कहे कि 'गुड़

मीठा होताहै' इस से गुड़ के स्वरूप का शब्दमात्र ज्ञान होता है, ऐसेही शास्त्र के वचनोंसे आत्मा के सत् चित् आनन्दस्वरूपका शब्दमात्र ज्ञान होताहै कि आत्मा सत् चित् आनन्दस्वरूपहै ॥

अग्र गुरुप्रतीतिर्दूराद्गुड़दर्शनं यद्वत् ।
आत्मप्रतीतिरस्माद्गुड़भक्षणजं सुखं यद्वत् ९०

इस के अनन्तर गुरु के द्वारा दूसरी प्रतीति (ज्ञान) होती है, जैसे कोई दूर से गुड़का दर्शन करादेय इसीप्रकार गुरु भी आत्मस्वरूप प्रत्यक्ष करा देते हैं, और इसके अनन्तर तीसरी आत्मप्रतीति होती है, जैसे स्वयं गुड़ भक्षण करनेसे उसकी मधुरताका अनुभव होताहै तैसेही आत्मस्वरूपका स्वयं अनुभव करना तीसरी प्रतीति है ॥ ९० ॥

रसगन्धरूपशब्दस्पर्शा अन्ये पदार्थाश्च ।
कस्मादनुभूयन्ते नो देहान्तरिन्द्रियग्रामात् ९१

अब आत्माके स्वरूप को सिद्ध करते हैं कि-आत्माक्या पदार्थ है, कोई२ इन्द्रियोंको आत्मा कहते हैं तिसका खण्डन करते हैं कि—यदि इन्द्रियही आत्मा हैं तो जीवित अवस्थामें इन्द्रियोंके द्वारा जिन रस गन्ध रूप शब्द स्पर्श तथा अन्यपदार्थों का अनुभव होता है उनका, देहान्त होनेपर इन्द्रियोंके रहते भी अनुभव क्यों नहीं होता ? इससे प्रतीत होता है कि-इन्द्रियें आत्मा नहीं हैं आत्मा इनसे भिन्न कोई दूसराही है ॥ ९१ ॥

मृतदेहेन्द्रियवर्गो यतो न जानाति दाहजं दुःखम् ।
प्राणश्चाग्निद्राया तस्करबाधां स किं वेत्ति ॥ ९२ ॥

जिन शरीर इन्द्रियादिको जीवित दशामें किञ्चिन्मात्र अग्नि का स्पर्श होनेसेभी दुःखका अनुभव होता है, उनकोही मृ-

तकदशामें सर्वथा दाह करनेपरभी किञ्चिन्मात्र दुःखका अ
नुभव नहीं होता इससेभी सिद्ध होता है कि—जिनकी पुष्टि
और तृप्तिके निमित्त अज्ञ प्राणी अनेकों उद्योग करता है व
शरीर इन्द्रिय आत्मा नहीं हैं। यदि कहो कि—प्राण आत्मा
हैं, मृतदशामें वह नहीं होते हैं अतः दाह आदिके दुःखका
अनुभव नहीं होता है, तहाँ कहते हैं कि—प्राणको आत्मा क
हनाभी ठीक नहीं है, क्योंकि—जब प्राणी निद्रामें होते हैं उ
समय प्राणों के होतेहुएभी चोरके भय आदिका अनुभव नहीं
होता इससे सिद्धहुआ कि—आत्मा प्राणसेभी पृथक्ही है ९

मनसो यदि वा विषयास्त्वयुगपत्किंन जानाति
तस्यपराधीनत्वाद्यतः प्रमादस्य कस्त्राता ॥९३॥

यदि कहोकि—विषयोंके सुख दुःखादि का अनुभव मनको
होताहै अतःमन आत्माहै, तहाँकहतेहैं कि यहभी ठीकनहीं
क्योंकि—यदिमन अनुभव कर्ता है तो मन एकसाथ दो प
दार्थों को क्योंनहीं जानता ? अर्थात् एकवार में मनएक
विषयको जानसक्ताहै क्योंकि—वह पराधीनहै और उसकेज
प्रमाद होतेहैं उनकी कौन रक्षा करसक्ताहै अतः मनआत्मा
नहींहै किन्तु मनभी जिसके अधीनहै वह प्रमादादि दोषर
हित आत्मा मन से भी पृथक्ही है ॥ ९३ ॥

गाढध्वान्तगृहान्ततःक्षितितले दीपंनिधायो
ज्ज्वलं, पश्चाच्छिद्रमधोमुखं हि कलशं तस्योपरि
स्थापयेत्। तद्वाह्यपरितोऽनुरन्ध्रममलां वीणां
कस्तूरिकां, सद्दलं व्यजनं न्यसेच्चकलशच्छिद्रा
ध्वनिर्गच्छतः ॥ ९४ ॥ तेजोंशेन पृथक्पदार्थ

न्निवह ज्ञानञ्च यज्जायते, तद्रन्ध्रैःकलशेनधा कि-
म मृदो भाण्डेन तैलेन वा। किं सूत्रेण न चैतद-
स्तिरुचिरं प्रत्यक्षवादादितो, दीपज्योतिरिहैकमे-
व शरणं देहे तथात्मास्थितः ॥ ९५ ॥

जिस प्रकार गाढ़ान्धकारयुक्त स्थानके भीतर भूतलपर प्रज्वलित दीपक रखकर उसके ऊपर एक पाँचछिद्रवाला मृत्तिकाका घड़ा नीचेको मुख करके रखदेय और उस घड़े के बाहर चारों ओर छिद्रों के समीप निर्मलवीणा कस्तूरी, श्रेष्ठ रत्न और व्यजन आदि पदार्थ स्थापित करै, उससमय घड़े के छिद्ररूप मार्गों से निकलते हुए तेजके अंशसे उन सकल वीणादि पदार्थोंका पृथक्२ ज्ञान होजाता है अर्थात् वह पदार्थ पृथक्२ स्पष्टरूपसे दीखते हैं उन पदार्थों के ज्ञानमें न वह छिद्र कारणहैं, न वह मृत्तिका का घड़ा कारण है, न तैल कारण है, और न सूत्र (सूत्रकी बत्ती) कारण है, किन्तु केवल एक दीपक की ज्योतिही कारण है यह प्रत्यक्षसिद्ध है क्योंकि यदि छिद्र घड़ा आदि कारण होते तो दीपककी ज्योति न होनेपर उन सबकी विद्यमानता में भी वह पदार्थ दीखते परन्तु ऐसा नहीं होता अतः एक दीपककी ज्योतिही कारण है, इसी प्रकार शरीरमें आत्मा स्थितहै, अर्थात् अज्ञानरूप गाढ अन्धकारसे भरे संसाररूप स्थानके भीतर भूतलपर जीवरूप एक दीपक प्रकाशित होरहाहै और उस दीपक के ऊपर जिसमें इन्द्रियरूप छिद्र हैं ऐसा एक शरीररूप घट ढका हुआहै और उसके चारों ओर अनेकों पदार्थहैं, उस घट के छिद्ररूप इन्द्रियोंमें को होकर मन के द्वारा बाहर आयेहुए जीवात्मा के प्रकाशसे जितने पदार्थ हैं सबका ज्ञान होताहै, उस

ज्ञान में न इन्द्रियरूप छिद्र कारण हैं, न मनरूपवत्ती कारण
न शरीररूप घट कारणहै, न प्राणरूप तैल कारण हैं, कि
केवल जीवात्मारूप दीपकका प्रकाश कारणहै, क्योंकि य
वह इन्द्रियादि कारण होते तो जीवात्माके अभावमें उन
होतेहुए सकलपदार्थोंका अनुभवहोना चाहिये था सो न
होताहै, अतः सर्वद्रष्टा सर्वसाक्षी आत्मा इन्द्रियादि सब
पृथक् सच्चिदानन्दस्वरूप है ॥ ९४ ॥ ९८ ॥

इति आत्मसिद्धिप्रकरणम् ॥

अथ मायासिद्धिप्रकरणम् ।

चिन्मात्रः परमात्मा ह्यपश्यदात्मानमात्मतश्च।
अभवत्सोऽहंनामा तस्मादासीद्भवो मूलम् ९
द्वैधेव भाति तस्मात्पतिश्च पत्नी च ते भवेतां वै
तस्मादयमाकाशः स्त्रियैव परिपूर्यते सततम् ९
सोऽयमथेक्षाञ्चक्रे ततो मनुष्या अजायन्त ।
इत्युपनिषदःप्राहुर्दर्शयितास्म्प्राति याज्ञवल्क्योक्त

संसारकी शरीराकार उत्पत्तिसे प्रथम, सकल शरीरों
समष्टिरूप एक चिन्मात्रस्वरूप परमात्मा विराट्ही था; उ
ने ही पुरुषाकार प्रजापति होकर आत्मस्वरूपसे अपनेको ह
देखा, अपने से भिन्न कुछ नहीं देखा, तब उसने 'सोऽहम् अस्मि
ऐसा कहा, तब उसका नाम 'अहम्' हुआ, उसने एकाकी
रमण न करके दूसरे की इच्छा करी, तब अपनेको दोभा
किया वह मिलेहुए स्त्री पुरुष हुए, यह मिलित स्त्रीपुरुषरू
ही जगत् का मूल ब्रह्मा हुआ, तदनन्तर स्त्रीरूप अर्द्धभाग

थक् हुआ और पुरुषरूप अर्द्धभागसे आकाश हुआ, जोकि सदा स्त्रीरूप अर्द्धभागसे परिपूर्ण होताहै, तिस प्रजापति ने फिर इच्छा करी तव तिन स्त्री पुरुष के द्वारा अर्थात् शतरूपा पत्नी और मनु पति के द्वारा मनुष्यों की उत्पत्ति हुई ऐसा उपनिषद् की श्रुतियों में स्त्री के प्रति याज्ञवल्क्य की उक्ति करके कहा है ॥ ९६ ॥ ९७ ॥ ९८ ॥

चिरमानन्दानुभवात्सुषुप्तिरिव काप्यवस्थाभूत् ।
परमात्मनस्तु तस्यां स्वप्न इवोत्थिता माया ९९॥

सृष्टि से प्रथम परमात्मा की योगनिन्द्राके समय चिरकाल पर्यन्त निजानन्द के अनुभव के अनन्तर एक सुषुप्तिकी समान अवस्था हुई,उससमय परमात्मा से स्वप्नकी समान माया उत्पन्न हुई (अतएव जैसे मनुष्यों के स्वप्न मिथ्या होते हैं तैसे मायाकल्पित जगत् को भी शास्त्रों में मिथ्या माना है) ॥९९॥

सदसद्विलक्षणासौ परमात्मसत्ताश्रयानादिः ।
सा च गुणत्रयरूपा सूते सचराचरं विश्वम् १००

यह माया सदसद्विलक्षणा है अर्थात् जिस को न सत् कहना वनताहै न असत् ही कहना वनता है अतएव अद्वैत-मतावलम्बियों ने इस का ' सदसद्भ्यामनिर्वचनीयं यत्किञ्चित्, ऐसा लक्षण किया है । यह माया ईश्वर की सत्ता का आश्रय कियेहुए है और अनादि है । तथा यह माया सत्व आदि त्रिगुणरूप है और इस सत्व रज तम इन तीनगुणों के रूप से चराचर विश्वको उत्पन्न करती है ॥ १०० ॥

माया तावददृश्या दृश्यं कार्यं कथं जनयेत् ।
तन्तुभिरदृश्यरूपैः पटोऽत्र दृश्यःकथं भवति ॥

यदि कहो कि—माया तो अदृश्य है वह इस दृश्यमान म-

हान् विश्वको कैसे उत्पन्न करेगी ? तहाँ कहते हैं कि–तन्तु जव भिन्न २ होते हैं उन में किसी को पटका स्वरूप नहीं दीखता फिर वह दृश्यमान महान् पटको कैसे उत्पन्न कर देते हैं ? ॥ १०१ ॥

स्वप्ने सुरतानुभवाच्छुक्रद्रावो यथा शुभे वसने।
अनृतं रतं प्रबोधे वसनोपहतिर्भवेत्सत्या १०२॥

अदृश्य से दृश्योत्पत्ति में दूसरा दृष्टान्त देते हैं कि–जैसे कोई पुरुष रात्रि को स्वच्छ वस्त्र पहिनकर शयन करे और वह सोतेहुए स्वप्न में देखे कि–मैं किसी स्त्री से सम्भोग कर रहा हूँ तो उसका वीर्यपात होजाता है अव विचारना चाहिये कि-जव वह पुरुष सोकर उठता है तव वह स्वप्न का रत (स्त्रीसमागम) मिथ्या प्रतीत होता है परन्तु वीर्यपात होने के कारण जो वस्त्रका दूषित होना है वह सत्य होताहै १०२

स्वप्नेपुरुषः सत्यो योषिदसत्या तयोर्युतिश्च मृषा।
शुक्रद्रावःसत्यस्तद्वत्प्रकृतेऽपि सम्भवति ॥ १०३॥

अर्थात् जैसे स्वप्न में पुरुष सत्यहै परन्तु स्त्री असत्य है और उस असत्य स्त्रीके साथ पुरुषका समागम भी असत्य है परन्तु वीर्यपात होना सत्य है तिसीप्रकार माया से जगत् की उत्पत्ति के विषय में भी समझना जैसा आगे के श्लोक में कहते हैं॥ १०३

एवमदृश्या माया तत्कार्यं जगदिदं दृश्यम् ।
माया तावदियं स्याद्या स्वविनाशेन हर्षदा भवति

ऊपरके दृष्टान्तकी समान, माया अदृश्य है तथापि यह दृश्यमान जगत् उसका कार्य है, यही मायाका मायात्व है और वह माया अपने विनाश करके हर्षदायक होतीहै ॥१०४॥

रजनीवातिदुरन्ता न लक्ष्यतेऽत्र स्वभावोऽस्याः।
सौदामिनीव नश्यति मुनिभिः सम्प्रेक्षयमाणैव॥

यह माया रात्रिकी समान दुरन्त है अर्थात् जैसे घनान्धकारमय रात्रि में पुरुष अपने कर्त्तव्यको नहीं करसक्ता है तैसे ही 'अहं मम' रूप माया के अन्धकार में फँसाहुआ पुरुष अपने कर्त्तव्य आत्मज्ञानकी प्राप्ति को नहीं करसक्ताहै क्योंकि-इस 'अहं, मम' के जालमें फँसेहुए पुरुषको माया के स्वभावका ज्ञान नहीं होताहै कि-यह जगत् में आसक्ति अनर्थकारिणी है, यह माया विजलीकी समान है जैसे विजली जहाँ गिरती है नाश करडालती है तैसेही माया भी जहाँ 'अहं, मम' रूपसे प्रबल होती है तहाँ पुरुष के सदसद्विवेकरूप कर्त्तव्यका नाश करदेती है, परन्तु सूर्योदय के समय विजली का प्रभाव नहीं चलता है तैसे ही मुनि कहिये आत्मस्वरूपका मनन करनेवाले पुरुषों के दृष्टिपातमात्र से अर्थात् उन के ज्ञानरूप सूर्य के प्रभाव से विनष्ट होजाती है। ॥ १०५ ॥

माया ब्रह्मोपगताऽविद्या जीवाश्रया प्रोक्ता।
चिदचिद्ग्रन्थिश्चेतस्तदक्षयं ज्ञेयमामोक्षात्॥१०६

श्री शङ्कराचार्यजीके अनुगामी अद्वैतवादियोंका मतहै कि-प्रकृतिके दो भेद हैं एक माया और दूसरा अविद्या-तिस में माया ब्रह्म के समीप दासीकी समान उपस्थित रहतीहै और अविद्या (सदसद्वस्तुविवेकका अभाव) जीवको आश्रय करके रहतीहै ऐसा शास्त्रों में कहा है। चित् और अचित् की ग्रन्थि अर्थात् बुद्धि आदि के विषैं आत्माध्याससे (चिच्छाया-चित्प्रतिविम्ब) जो चैतन्य होताहै उसका नाम चेतहै, यह मोक्षपर्यन्त अक्षय रहता है ऐसा जाने, जैसा कि-अनेकों

वेदान्त के ग्रन्थ, और श्रीमद्भागवत में भी लिखाहै 'भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः। क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे ॥' अर्थात् तिस परमात्माका दर्शन होतेही हृदयकी ग्रन्थि (वही चिदचिद्ग्रन्थि) विनष्ट होजाती है, सकल संशयोंका छेदन होजाता है तथा इस जीव के सकलकर्म क्षीण होजाते हैं ॥' इस से सिद्धहुआ कि–जबतक आत्मदर्शनरूप मोक्षकी प्राप्ति नहीं होती है तबतक वह ग्रन्थिरूप चेत दृढ़ रहता है ॥ १०६ ॥

घटमठकुञ्जैरावृतमाकाशं तत्तदाह्वयं भवति ।
तद्वदविद्यावृतमिह चैतन्यं जीव इत्युक्तः॥१०७॥

जिसप्रकार सकल जगत् में व्याप्त आकाश एक ही है परन्तु घट के भीतर का आकाश घटाकाश कहलाता है, मठ के भीतर का आकाश मठाकाश कहलाता है और कुञ्ज के भीतर का आकाश कुञ्जाकाश कहलाता है तिसीप्रकार सर्वगत आत्मा का चैतन्य अविद्या से आवृत होकर इसलोक में जीव इस नाम से कहाजाता है ॥ १०७ ॥

ननु कथमावरणं स्यादज्ञानं ब्रह्मणो विशुद्धस्य
सूर्यस्येव तमिस्रं रात्रिभवं स्वप्रकाशस्य ॥१०८॥

तहाँ शङ्का करते हैं कि–'परमात्मा का चैतन्य अविद्यासे आवृत होकर जीव कहलाताहै' यह कहना ठीक नहीं है क्योंकि–विशुद्ध ब्रह्मको अज्ञानरूप आवरण कैसे होसक्ता है ? जैसे कि स्वप्रकाश सूर्यको रात्रिका गाढ अन्धकार आवृत नहीं करसक्ता ॥ १०८ ॥

दिनकरकिरणोत्पन्नैर्मेघैराछाद्यते यथा सूर्यः ।
न खलु दिनस्य दिनत्वं तैर्विकृतैः सान्द्रसङ्घातैः ।

अज्ञानेन तथात्मा शुद्धोऽपि छाद्यते सुचिरम् ।
न परन्तु लोकसिद्धा प्राणिषु तच्चेतनाशक्तिः११०

जैसे सूर्य की किरणों से उत्पन्न हुए मेघों से सूर्य आच्छादित होजाता है परन्तु उन सूर्य की किरणों के विकार रूप सान्द्र मेघमण्डलों से दिनका दिनत्व आच्छादित नहीं होता है तैसे ही शुद्ध भी जीवात्मा चिरकालपर्यन्त अज्ञान से आच्छादित रहताहै परन्तु प्राणियोंमें जो उसकी लोक प्रसिद्ध चेतनाशक्ति है वह आच्छादित नहीं होती है, अतएव श्रुति में लिखा है कि-"चैतन्यमात्मनो विद्या-(द्वा-) न्न बिभेति कुतश्चन" आत्माके चैतन्य को जाननेवाला किसीसे भय नहीं मानता है, क्योंकि-वह जानता है कि-चैतन्य के अतिरिक्त सकल जगत् अविद्या से आच्छादित है अतः जैसे स्वप्नके सिंह आदि असत् होते हैं तैसेही यह सब अविद्यावृत असत् जगज्जाल में 'अहं,मम' बुद्धि अनर्थकारिणी है ११०

इति मायासिद्धि प्रकरणम् ।

अथ लिंगदेहादि-निरूपणम् ।

स्थूल शरीरस्यान्तर्लिङ्गशरीरञ्च तस्यान्तः ।
कारणमस्याप्यन्तस्ततो महाकारणं तुर्यं ॥१११॥

स्थूल शरीरके भीतर लिङ्गशरीर है तिस लिङ्ग शरीर के भीतर कारणशरीरहै और तदनन्तर उसके भीतर भी चौथा महाकारण है ॥ १११ ॥

स्थूलं निरूपितं प्रागधुना सूक्ष्मादितो ब्रूमः ।
अंगष्ठमात्रःपुरुषः श्रुतिरिति यत्प्राह तत्सूक्ष्मम् ॥

स्थूल शरीरका वर्णन पहिले करचुके, अब सूक्ष्म शरीर आदिका निरूपण करते हैं 'अंगुष्ठमात्रः पुरुषः' अंगुष्ठमात्र पुरुष है ऐसा जो श्रुति में कहाहै वही सूक्ष्म है ॥ ११२ ॥

सूक्ष्माणि महाभूतान्यसवः पञ्चेन्द्रियाणि पञ्चैव।
षोडशमन्तःकरणं तत्संघातो हि लिङ्गतनुः ११३॥

सूक्ष्म पञ्चमहाभूत, पाँचप्राण, पाँचही इन्द्रिय और सोलहवां अन्तःकरण इनके संघात (समूह) का नाम लिंगशरीर वा सूक्ष्मशरीर है ॥ ११३ ॥

तत्कारणं स्मृतं यत्तस्यान्तर्वासनाजालम् ।
तस्य प्रवृत्तिहेतुर्बुद्ध्याश्रयमत्र तुर्यं स्यात् ॥११४॥

वह कारण शरीर कहाताहै कि जिसमें जीवका वासनाजाल (वासनाओंका समूह) रहता है, और तिस कारण शरीरकी प्रवृत्तिका हेतु बुद्धिका आश्रय करके रहनेवाला इस स्थूल शरीर में चौथा महाकारण है ॥ ११४ ॥

तत्सारभूतबुद्धौ यत्प्रतिफलितन्तु शुद्धचैतन्यम्।
जीवःस उक्तआद्यैर्योऽहमिति स्फूर्तिकृद्वपुषि ११५

सारभूत बुद्धि में जो शुद्ध चैतन्य प्रतिफलित होता है अर्थात जलमें सूर्य के प्रतिविम्बकी समान जो बुद्धिमें चैतन्यका प्रतिविम्ब पड़ता है उसीको पुरातन ऋषि मुनियोंने जीव माना है, जो कि शरीरमें 'अहम्' ऐसी स्फूर्ति करनेवालाहै अर्थात् दर्पण में मुखके प्रतिविम्बकी समान बुद्धिस्थ चैतन्य-प्रतिविम्ब का नाम जीवहै ॥ ११५ ॥

चरतरतरङ्ग सङ्गात्प्रतिभास्करं चञ्चलत्वं स्यात।
अम्सु तथा चञ्चलता चैतन्ये चित्तचाञ्चल्यात् ॥

जैसे जलके अनेकों पात्रों में चलायमान तरङ्गों के सङ्गसे प्रत्येक सूर्य (जलस्थ सूर्य के प्रत्येक प्रतिविम्ब) में चञ्चलता होती है वह सूर्य में किसी प्रकार विकार नहीं उत्पन्न करसकी तैसेही चित्तकी चञ्चलता के कारण चैतन्यमें भी औपाधिक चञ्चलता प्रतीत होती है परन्तु इससे चैतन्यमें किसी प्रकार का विकार नहीं होता है ॥ ११६ ॥

नन्वर्कप्रतिबिम्बः सलिलादिषु यः स चावभासयते किमितरपदार्थान्नह्यं प्रतिबिम्बोऽप्यात्मनस्तद्वत्

यदि कहो कि जब चैतन्यका प्रतिविम्ब जीवहै तो परमात्माकी समान इसमें शक्तियें क्यों नहीं हैं ? तहां कहते हैं कि—क्या जो जल आदि में सूर्य का प्रतिविम्ब होता है वह सूर्यकी समान अन्य पदार्थोंको प्रकाशित करनेकी शक्ति रखता है ? किन्तु नहीं; इसी प्रकार आत्माके प्रतिविम्बके विषय में जानो ॥ ११७ ॥

प्रतिफलितं यत्तेजः सवितुः कांस्यादिपात्रेषु ।
तदनुप्रविष्टमन्तर्गृहमन्यार्थान्प्रकाशयति ॥ ११८ ॥
चित्प्रतिबिम्बस्तद्वत् बुद्धिषु यो जीवतां प्राप्तः ।
नेत्रादीन्द्रियमार्गैर्बहिरर्थान्सोऽवभासयति ११९

तहां शङ्का होती है कि—जब जीवमें बिम्बगत प्रकाशकत्व आदि नहीं है तो जीव इन्द्रियादि के द्वारा अनेकों पदार्थों का ज्ञान कैसे करता कराता है ? तहां कहते हैं कि-जैसे काँसी आदिके पात्रों में प्रतिविम्बित हुआ सूर्यका जो तेज वह काँसी आदिसे फिर गृह आदिमें प्रविष्ट होकर अर्थात् काँसी आदि पर जो सूर्यका प्रतिविम्ब पड़ता है उसका प्रकाश घरके भीतर पड़नेपर जैसे वह अनेकों घरमें के पदार्थोंको प्रकाशित क-

रता है तैसेही चैतन्य बुद्धियों के विषै प्रतिबिम्बित होकर जीवदशा को प्राप्त होनेपर नेत्र आदि इन्द्रियों के मार्गों से बाहर के सकल पदार्थोंको अवभासित करता है अर्थात् स्वयं जानता है और दूसरों को जताता है ॥ ११८ ॥ ११९ ॥

इति लिङ्गदेहादिनिरूपणम्.

अथ अद्वैतप्रकरणम् ।

तदिदं य एवमार्यो वेद ब्रह्माहमस्मीति ।
स इदं सर्वं तस्य हि देवाश्च नेशतेऽभूत्यै ॥ १२० ॥
एषां सभवत्यात्मा नोऽन्यामथदेवतामुपास्तेस्सः ।
अहमन्योऽसावन्यश्चेत्थं यो वेद पशुवत्सः ।१२
इत्युपनिषदामुक्तिस्तथा श्रुतिर्भगवदुक्तिश्च ।
ज्ञानीत्वात्मैवेयं मतिर्ममेत्यत्र युक्तिरपि ॥ १२२
ऋजुवक्रमग्नाकाष्ठं हुताशदग्धं सदग्नितांयाति ।
तत् किं हस्तग्राह्यमृजुवक्राकारसत्वेऽपि ॥ १२३ ॥

जो विचारवान् शास्त्राभ्यासी पुरुष इस सकल विश्वक और अपने को ब्रह्मस्वरूप जानता है, यह सकल विश्व [illegible] त्स्वरूप ही है, उसके ब्रह्मत्वका अभाव करनेको देवता भ नहीं समर्थ होसक्ते । सकल विश्व ब्रह्माण्डगत जीवों क आत्मा होने के कारण वह इस ज्ञानदृष्टि के प्राप्त होनेके अनन्तर फिर किसी दूसरे देवताकी उपासना नहीं करता है क्योंकि–सकल देवताभी उसके आत्मस्वरूप में होते हैं अतः

आत्मोपासनामें ही सबकी उपासना होजाती है, इस मनुष्य जन्मको प्राप्त होकर जिसने आत्माको न जाना और मैं अन्य हूँ, यह अन्यहै, ऐसा जाना वह देवोपासना करताहुआ भी देवताओं के पशुकी समान है अर्थात् जैसे पशुका जीवन आत्मज्ञानका साधन नहीं होताहै तैसेही आत्मज्ञानका साधन न होनेके कारण उसका जीवनभी पशुके जीवनकीही समान है । ऐसाही उपनिषदोंमें सिद्धांत कियाहै "ब्रह्मविद्ब्रह्मैव भवति" इत्यादि श्रुतियों में और "सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि" इत्यादि गीताके वाक्यों में भी भगवान् का यही उपदेशहै, अतः मेरा सिद्धान्त तो यह है कि-ज्ञानी आत्मस्वरूपही है, इस विषयमें युक्तिभी है जैसे काष्ठ सूधाहो वा टेढ़ाहो वह जलकर जाज्वल्यमान अग्निरूपही होजाता है, टेढ़ा सूधा दोनों प्रकार का आकार होनेपरभी कोई उनको हाथ से नहीं पकड़सक्ता है क्योंकि-अग्निरूपत्वेन वह दोनों एक समानही हैं, ॥ १२० ॥ १२१ ॥ १२२ ॥ १२३ ॥

एवं य आत्मनिष्ठो ह्यात्माकारश्च जायते पुरुषः ।
देहीव दृश्यतेऽसौ परन्त्वसौ केवलोह्यात्मा ।१२४।

इसी प्रकार जो आत्मज्ञानी है वह पुरुषभी आत्मरूपही होताहै, यद्यपि वह शरीरसा दीखताहै परन्तु वह केवलशुद्ध आत्मस्वरूप होताहै ॥ १२४ ॥

प्रतिफलति भानुरेकोऽनेकशरावोदकेषु यथा ।
तद्वदसौ परमात्मा ह्येकोनेकेषु देहेषु ॥ १२५ ॥

जैसे एकही सूर्य बहुतसे जलके भरेहुए शराव आदि पात्रों में प्रतिविम्बित होताहै तैसे ही यह परमात्मा अनेकों शरीरों में प्रतिविम्बित होता है ॥ १२६ ॥

दैवादेकशरावे भग्ने किम्वा विलीयते सूर्यः ।
प्रतिबिम्बचञ्चलत्वादर्कः किंचञ्चलोभवति ॥

यदि उनमेंसे जिनमें कि-सूर्य प्रतिविम्बितहै एकशराव[सकोरा] टूटजाय और उसका जल विखरजाने से उसमें का प्रतिविम्ब दीखने में न आवे तो क्या सूर्य विलीन (नष्ट) होजाता है ? किन्तु नहीं; सूर्य में कुछ भी विकार नहीं होता है ऐसेही उस शराव के जल में वायु आदिके कारण से यदि प्रतिविम्ब चञ्चल दीखे तो क्या ? सूर्य में चञ्चलता होती है ? किन्तु नहीं, इसीप्रकार जीव के औपाधिक धर्म वा शरीरके धर्म से आत्मा में कोई विकार नहीं होसक्ता ॥ १२६ ॥

स्वव्यापारं कुरुते यथैकसवितुः प्रकाशेन ।
तद्वच्चराचरमिदं ह्येकात्मसत्तया चलति १२[illegible]

जैसे संसारभर एकही सूर्य के प्रकाश करके अपने व्यापार को करताहै तैंसेही यह चराचर विश्व एकही आ[illegible] की सत्ता से चलता है ॥ १२७ ॥

येनोदकेन कदलीचम्पकजात्यादयः प्रवर्द्धन्ते
मूलकपलाण्डुलशुनास्तेनैधन्तेविभिन्नरसगन्धा[illegible]
एकोहि सूत्रधारः काष्ठप्रकृतीरनेकशो युगपत्
स्तम्भाग्रपट्टिकायां नर्त्तयतीह प्रगूढतया॥१२९॥
गुड़खण्डशर्कराद्याभिन्नाःस्युर्विकृतयोयथैकोक्षो
केयूरकङ्कणाद्यायथैकहेम्नोऽभिधाश्चपृथक् ॥१३०॥
एवं पृथक्त्वभावं पृथगाकारं पृथग्वृत्ति ।
जगदुच्चावचमुच्चैरेकेनैवात्मना चलति ॥१३१॥

जिस जल से केला, चम्पक, जूही आदि सुगन्धित वृक्ष बढ़ते हैं उसही से विभिन्न रस और गन्धवाले मूली, शलजम, लहसुन आदि वृक्ष बढ़ते हैं। एकही सूत्रधार (तमासा करने वाला) स्वयं छुपकर बैठाहुआ खम्भे के आगे की पट्टिका (चौकी) पर एकसाथ बहुतसी काठकी पुतलियों को नचाता है एकही इक्षु (ईख–गन्ना) से गुड़, खांड और शर्करा आदि नानाप्रकार की मिठाइयें रचीजाती हैं, और एकही सुवर्णसे बाजूबन्द, कङ्कण आदि अनेकों आभूषण जैसे इस जगत् में रचित होते हैं तैसेही भिन्न २ भाव, भिन्न २ आकार और भिन्न वृत्तिवाला यह पिपीलिकासे लेकर ब्रह्मापर्यन्त सकल उच्चावच संसार एकही सर्वशक्तिमान् परमात्मा की सत्ता से चलता है ॥ १२८ ॥ १२९ ॥ १३० ॥ १३१ ॥

स्कन्धधृतसिद्धमन्नं यावन्नाश्नाति मार्गगस्तावत्
स्पर्शभयक्षुत्पीडा तस्मिन् भुक्ते न सा भवति१३२
मानुषमतंगमहिषश्वसूकरादिष्वनुस्यूतम् ॥
यः पश्यति जगदीशं भुंक्तेऽसावद्वयानंदम्१३३॥

जो पुरुष कन्धेपर पकान्न रखकर मार्ग चलरहा है और बुभुक्षित है वह जबतक उस अन्नको नहीं खाता है तबतक कोई उसको स्पर्श करता हुआ न निकलजाय इसकी पीड़ा होती है, कोई छीन न लेय यह भयभी होताहै और क्षुधाभी पीड़ित करती है और यदि उस पकान्न को भोजन करलेय तो मार्ग का परिश्रम भी अधिक पीडित नहीं करता है तथा और किसी प्रकार का भय वा पीड़ा भी नहीं होती है इसीप्रकार मनुष्य, हाथी, महिष, श्वान और सूकर आदिके विषैं जो आत्मा है वही प्रत्येक प्राणीके हृदयमें विराजमान

है परन्तु जबतक प्राणी उसको पृथक् रखता है अर्थात् भेद दृष्टि रखता है तबतक अनेकों प्रकार के भय (द्वितीयाद्वै भयं भवति) और पीड़ाएं भोगता है और जो अंतर्यामी जगदीश्वर को विवेक दृष्टि से देखलेता है वह परमानन्द को भोगता है ॥ १३२ ॥ १३३ ॥

इति अद्वैतप्रकरणम् ।

अथ कर्तृत्व—भोक्तृत्व प्रकरणम् ।

यद्वत्सूर्येऽभ्युदिते स्वव्यवहारं जनः कुरुते ।
तन्नकरोतिविवस्वान् न कारयतितद्वदात्मापि ॥

जैसे सूर्य का उदय होनेपर सकल मनुष्य अपना २ व्यवहार करते हैं उन के व्यवहार को सूर्य नहीं करता तिसी प्रकार शरीर में आत्मा का प्रकाश होनेपर इन्द्रियादि अपना अपना कार्य करते हैं उन कार्यों को आत्मा नहीं करता कराता है ॥ १३४ ॥

लोहे हुतभुग्व्याप्ते लोहान्तरताड्यमानेऽपि ।
तस्यांतर्गतवन्हेः किंस्यान्निर्घातजंदुःखम् ।१३५

अग्निमें तपाएहुए जाज्वल्यमान लोहे को दूसरे लोहेसे ताड़न करने (कूटने) परभी क्या वह ताड़नाका दुःख लोहेके अन्तर्गत वन्हिको होगा ? किन्तु नहीं, इसीप्रकार आत्मा करके व्याप्त इस शरीर पर अनेकों प्रकार की पीड़ा आपड़ें वा सुख आपड़े उससे आत्मा का कोई सम्बन्ध नहीं होता है ॥ १३५ ।

निष्ठुरकुठारघातैः काष्ठे सञ्छेद्यमानेऽपि ।
तस्यान्तर्गतवह्नेः किं स्यान्निर्घातजं दुःखम् ॥

निष्ठुरता के साथ कुल्हाड़ी के प्रहारोंसे काठको काटनेपर भी क्या उसके भीतर विद्यमान अग्निको दुःख होसक्ता है ? किन्तु नहीं होता ॥ १३६ ॥

ननु सम्बन्धाज्जातैः सुखदुःखैर्लिप्यते नात्मा ।
ब्रूते श्रुतिरपि भूयोनश्नन्नन्योऽभिचाकशीत्यादिः॥

जैसे तपेहुए लोहे को कूटने से उसमें विद्यमान अग्निको उस कूटने से किसीप्रकार का दुःख नहीं होता है और जैसे काठको कुल्हाड़ी से काटनेपर उस काटने का दुःख काठ में विद्यमान अग्निको नहीं होता है, निःसन्देह उसीप्रकार देह आदिके सम्बन्धसे होनेवाले सुख और दुःखोंसे आत्मा लिप्त नहीं होता है अर्थात् उनसे आत्मा का कोई सम्बन्ध नहीं है। यही तात्पर्य 'द्वा सुपर्णा इत्यादि' श्रुतिभी कहतीहै १३७

निशि वेश्मनि प्रदीपे दीव्यति चोरस्तु वित्तमपहरति
ईरयति वारयति वा तं दीपः किं तथात्मापि १३८

रात्रि में घर में दीपक के बलतेहुए चोर धन हरकर लेजाताहै परन्तु क्या दीपक चोरको चुराने के निमित्त प्रेरणा वा निषेध करता है ? किन्तु नहीं, इसीप्रकार आत्मा भी है अर्थात्-मोहरूप रात्रि के विषै शरीरमें आत्मा के विद्यमान होतेहुए विषयरूप चोर चोरी करके लेजाते हैं परन्तु आत्मा साक्षीरूप से उनको देखताहुआ निर्लेपही होता है ॥ १३८ ॥

निष्ठुरकुठारघातैः काष्ठे सञ्छिद्यमानेऽपि ।
तस्याभ्यन्तरवर्त्ती वह्निः किं छिद्यते तद्वत् ॥ १३९

निष्ठुरता के साथ कुल्हाड़े के प्रहारोंसे काठका छेदन करनेपर भी क्या उस काठ के भीतर विद्यमान अग्निका छेदन

होता है ? किन्तु नहीं । तिसीप्रकार शरीर को छेदन आदि का दुःख वा किसीप्रकार का सुख प्राप्त होने से वह दुःख सुख आदि आत्मा को नहीं होता है किन्तु आत्मा असङ्ग, निर्लेप है ॥ १३९ ॥

गेहान्तर्दैववशात्कस्मिंश्चित् समुदिते विपन्ने वा।
दीपस्तुष्यत्यथवा खिद्यति किं तद्वदात्माऽपि१४०

प्रारब्धवश घरमें किसी के उत्पन्न होनेपर वा किसी का मरण होनेपर उस घरमें वलताहुआ दीपक क्या उत्पन्न होने से आनन्दित वा मरण होने से खिन्न होताहै ? किन्तु कदापि नहीं, तिसीप्रकार साक्षी आत्मा शरीर में होनेवाले दुःखसे वा सुख से असङ्ग रहता है लिप्त नहीं होताहै ॥१४०॥

इति कर्तृत्वभोक्तृत्व-प्रकरणम् ॥

अथ स्वप्रकाशता—प्रकरणम् ।

रविचन्द्रवह्निदीपप्रमुखाः स्वपरप्रकाशाः स्युः ।
यद्यपि तथाप्यमीभिः प्रकाश्यते क्वापि नैवात्मा॥
चक्षुर्द्वारैव स्यात्परात्मना भानमेतेषाम् ।
यद्वाऽन्येऽपि पदार्था न ज्ञायन्ते केवलाल्लोकात् ॥
तत्राप्यचिद्वारा सहायभूतो न चेदात्मा ।
नो चेत्सत्यालोके पश्यत्यन्धः कथं नार्थान् ।१४३।
सत्यात्मन्यपि किन्नो ज्ञानं तच्चेंद्रियान्तरेण स्यात्
अन्धे दृक्प्रतिबन्धे करसम्बन्धे पदार्थज्ञानं हि ॥

सूर्य, चन्द्रमा, अग्नि और दीपक आदि, यद्यपि अपने और अन्य पदार्थों के प्रकाशक हैं, तथापि इन के द्वारा कभी

आत्मा प्रकाशित नहीं होता है; जैसा कि—श्रुति में भी कहा है—"न यत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोयमग्निः" अर्थात्—जिस आत्मा के विषय में सूर्य प्रकाश नहीं करता है, तारागणों सहित चन्द्रमा प्रकाश नहीं करता है, यह विजलियें प्रकाश नहीं करती हैं फिर यह अग्नि तो प्रकाश करही कैसे सक्ता है ? किन्तु इन का भी भान परमात्मा की सहायता से चक्षु के द्वाराही होता है तथा और भी पदार्थ, यदि उन के देखने में चक्षु के द्वारा आत्मा सहायक न होय तो केवल सूर्य आदि के प्रकाश से नहीं जाने जाते हैं। नहीं तो यदि, चक्षु के द्वारा आत्माकी सहायता के विना केवल सूर्यादि के प्रकाश से ही पदार्थों का ज्ञान होजायाकरे तो दिन में सूर्य का प्रकाश होनेपर वा रात्रि में चन्द्रमा आदि का प्रकाश होनेपर अन्ध को भी सकल पदार्थ क्यों नहीं दीखते हैं? इस कारण तथा सूर्य आदि का प्रकाश न होनेपर भी आत्मा के होनेपर दूसरी इन्द्रिय के द्वारा क्या वह पदार्थ का ज्ञान नहीं होगा ? किन्तु अवश्यही होगा, देखो-अन्ध के नेत्रों के न होतेहुए भी आत्मा की सहायता से हाथ के द्वारा ही पदार्थ का ज्ञान होजाता है, इसकारण ही श्रुति में कहा है कि—" तस्य भासा सर्वमिदं विभाति " अर्थात् आत्मा के प्रकाश से ही यह सब प्रकाशित होता है ॥ १४१ ॥ १४२ ॥ १४३ ॥ १४४ ॥

जनाति येन सर्वं केन च तं वा विजानीयात् ।
इत्युपनिषदामुक्तिर्बुद्ध्यत आत्मात्मना तस्मात्

जिस की सहायता से सकल वस्तुसमूह जानाजाता है, उसको फिर किसकी सहायता से जाने ? ऐसा उपनिषदों का कथन है, तिससे आत्मा के द्वाराही आत्मा जानाजाता है।

इति स्वप्रकाशताप्रकरणम् ।

अथ नादानुसन्धान-प्रकरणम् ।

यावत् क्षणं क्षणार्द्धं स्वरूपरिचिन्तनं क्रियते।
तावद्दक्षिणकर्णे त्वनाहतः श्रूयते शब्दः ॥१४६॥

चित्त को शास्त्र में कही रीति के अनुसार स्थिर करके जबतक क्षणभर को वा आधे क्षण को आत्मस्वरूपका चिन्तन (ध्यान) किया जाता है तबतक दक्षिण (दाहिने) कान में अनाहत शब्द सुनाई देता है ॥ १४६ ॥

चित्तं विषयोपरमाद्यथा यथा याति नैश्चल्यम् ।
वेणोरिव दीर्घतमस्तथा तथा श्रूयते नादः।१४७

चित्त विषयों से हटकर जैसे २ निश्चल भाव को प्राप्त होता है, तैसे २ बाँसुरी के अति ऊँचे शब्द की समान नाद (अनाहत शब्द) सुनने में आता है ॥ १४७ ॥

भेरीमृदङ्गशंखाद्याहतिनादे मनः क्षणं रमते।
किं पुनरनाहतेऽस्मिन्मधुमधुरेऽखण्डिते स्वच्छे

भेरी, मृदङ्ग और शंख आदि के आहत (मनुष्य के उद्योग से उत्पन्न होने वाले) शब्द के होने पर जब मन क्षण भर को रमजाता है अर्थात् आनन्द में मग्न होजाता है तो फिर इस परम मधुर, अखंडित और स्वच्छ अनाहत (किसी मनुष्य आदि से उत्पन्न न होने वाले दिव्य) शब्द (नाद) में क्यों नहीं रमेगा ? अवश्य ही रमेगा॥१४८॥

नादाभ्यन्तरवर्त्ति ज्योतिर्यद्वर्त्तते हि चिरम् ।
तत्र मनो लीनं चेन्न पुनः संसारबन्धाय १४९

उस नाद के भीतर की जो ज्योति (प्रकाश) चिर-

काल तक रहती है यदि उस में मनलीन होजाय तो फिर वह संसारबन्धन का कारण नहीं होता है ॥ १४६ ॥

परमानन्दानुभवात्सुचिरं नादानुसन्धानात् ।
श्रेष्ठश्चित्तलयोऽयंस्यात्सरस्वन्यलयेष्वनेकेषु१५०

नाद का अनुसन्धान करते २ अर्थात् अनाहत शब्द में रमण करते २ चिरकाल तक परम आनन्द का अनुभव करने से जो चित्त का लय होता है वह अन्य अनेकों प्रकार के होने वाले चित्त के लयों की अपेक्षा श्रेष्ठ है ॥ १५० ॥

इति नादानुसंधानप्रकरणम् ॥

अथ मनोजयप्रकरणम् ।

संसारतापतप्तं नानायोनिभ्रमात्परिश्रान्तम् ,
लब्ध्वा परमानन्दं न चलति चेतः कदा क्वापि॥

संसार के त्रिविध तापों से तपा हुआ और कर्मवश नाना प्रकार की योनियों में घूमने से थकित हुआ यह चित्त परम आनन्द को पाकर फिर कभी कहीं को भी चलायमान नहीं होता है ॥ १५१ ॥

अद्वैतानन्दभरात् किमिदं कोऽहञ्च कश्चायम् ।
इति यातं मन्थरतां यदा तदा मूर्छितं चेतः१५१

अद्वैतरूप आनन्दभार से जब चित्त मन्थरता को प्राप्त होकर 'यह क्या वस्तु है ? मैं कौन हूँ ? और यह कौन ? है इस प्रकार की दशा को प्राप्त होजाता है तब मूर्छित कहाता है।

चिरतरमात्मानुभवादात्माकारं प्रजायते चेतः
सरिदिव सागरयाता समुद्रभावं प्रयात्युच्चैः१५२

जैसे वेग के साथ समुद्र मेंको जाती हुई नदी सागररूप होजाती है तैसे ही चिरकालपर्यंत आत्मा का अनुभव करने से चित्त आत्माकार (आत्मरूप) में लीन हो जाता है ॥ १५२ ॥

आत्मन्यनुप्रविष्टं चित्तं नापेक्षते पुनर्विषयान् ।
क्षीरादुद्धृतमाज्यं यथा पुनः क्षीरतां न यातीह

जैसे इस लोक में दूध में से निकला हुआ घी फिर दूधभाव को नहीं प्राप्त होता है तैसे ही आत्मा में पूर्णरूप से प्रविष्ट हुआ चित्त फिर विषयों की अपेक्षा नहीं करता है॥ १५३॥

दृष्टौ द्रष्टरि दृश्ये यदनुस्यूतं हि भानमात्रं स्यात्
तत्रोपक्षीणं चेच्चेतस्तन्मूर्छितं भवति ॥ १५४ ॥

दृष्टि में, द्रष्टा में (देखनेवाले में) और दृश्य में (देखने योग्य वस्तु में) जो अनुस्यूत (पुराहुआ) है और जिस का भानमात्र होता है उस आत्मस्वरूप में उपक्षीण (लीन) हुआ चित्त मूर्छित होता है ॥ १५४ ॥

एकस्मिन् दृङ्मात्रे त्रेधा द्रष्ट्रादिकं हि समुदेति।
त्रिविधं तस्मिंल्लीने दृङ्मात्रमवशिष्यते पश्चात् ॥

केवल एक ही दृक् के होनेपर द्रष्टा आदि तीनों का उदय होता है और इन तीनों के लीन होजानेपर केवल दृक् ही शेष रहजाय है ॥ १५५ ॥

इति मनोजय—प्रकरणम्.

अथ प्रबोध—प्रकरणम् ।

माधुर्यं गुड़पिण्डे यत्तत्तस्यांशकेऽणुमात्रेऽपि ।

एवं न पृथग्भावो गुडत्वमधुरत्वयोरस्ति ॥१५६॥

जो मधुरता गुड़ के पिण्ड (गोले) में है वही मधुरता उस पिण्ड के अणुमात्र अंश में भी है इसप्रकार गुड़त्व और मधुरत्व में भेदभाव नहीं है ॥ १५६ ॥

अथवा न भिन्नभावः कर्पूरामोदयोरेवम् ।
आत्मस्वरूपमनसां पुंसां जगदात्मतां याति ॥

अथवा जैसे कपूर और उस की सुगन्ध में भेद नहीं है ऐसे ही जिन का मन आत्मस्वरूप होगया है उन पुरुषों का, सकल जगत् आत्मस्वरूप होजाता है ॥ १५७ ॥

अतिगम्भीरेऽपारे ज्ञानचिदानन्दसागरे स्फारे ।
कर्मसमीरणतरला जीवतरङ्गावलिः स्फुरति१५८

अथाह, अपार, चौड़े, ज्ञानस्वरूप चिदानन्द सागर में कर्मरूप वायु से चलायमान जीवरूप तरङ्गमाला का स्फुरण होरहा है ॥ १५८ ॥

खरतरकरैःप्रदीप्तेऽभ्युदिते चैतन्यतिग्मांशौ ।
स्फुरति मृषैव समन्तादनेकविधजीवमृगतृष्णा॥

अति तीखी किरणों से प्रकाशवान् चैतन्यरूप सूर्य के उदय होनेपर चारों ओर अनेकों प्रकारके जीवरूप मृगतृष्णा मिथ्या ही स्फुरित होरही है ॥ १५९ ॥

अन्तर्दृष्टे यस्मिन् जगदिदमाराात् परिस्फुरति ।
दृष्टे यस्मिन् सकृदपि विलीयते क्वाप्यसद्रूपम्१६०

जिसका, हृदयमें दर्शन होनेपर यह ब्रह्माण्डव्याप्त सकल जगत् अपने समीप में दीखता है और जिसका एकवार भी दर्शन होनेपर यह मायाकल्पित असद्रूप (मायाकल्पित)

संसार न जाने कहाँ विलीन होजाता है ॥ १६० ॥

बाह्याभ्यन्तरपूर्णः परमानन्दार्णवे निमग्नो यः ।
चिरमाप्लुत इव कलशो महाह्रदे जन्हुतनयायाः

जैसे गङ्गाजी के बड़े गहरे ह्रद (कुण्डे) में चिरकालतक डूवा पड़ाहुआ कलश भीतर और बाहर से पूर्ण होता है तैसे ही जो परमानन्दके समुद्र में गोता लगाता है वह भीतर बाहरसे परिपूर्ण होजाता है अर्थात् उसको फिर किसी विषय की इच्छा नहीं होती है ॥ १६१ ॥

पूर्णात्पूर्णतरे परात्परतरेऽप्यज्ञातपारे हरौ,
सम्वित्स्फारसुधार्णवे विरहिते वीचीतरङ्गादिभिः
भास्वत्कोटिविकाशितोज्ज्वलदिगाकाशप्रकाशे
परे, स्वानन्दैकरसे निमग्नमनसां न त्वं न चाहं
जगत् ॥ १६२ ॥

पूर्ण से भी पूर्णतर, पर से भी परतर और जिसका पार जाना ही नहीं गया है, वीची और तरङ्ग आदि से रहित ज्ञान के अति विस्तार वाले समुद्ररूप, करोड़ों सूर्यों से प्रकाशित होने से उज्ज्वल दिशा और आकाश की समान प्रकाशयुक्त परमात्मा श्रीहरिरूप निजानन्द में जिन का मन निमग्न हो रहा है उन ज्ञानियों की दृष्टि में, तू, मैं, और जगत् यह कुछ भी नहीं है, क्योंकि 'सर्वं वासुदेवम्' ऐसी बुद्धि होने के कारण उन का भेदभाव दूर होगया है ॥ १६२ ॥

इति प्रबोध-प्रकरणम् ॥

अथ द्विधाभक्ति-प्रकरणम् ।

चित्ते सत्वोत्पत्तौ तड़िदिव बोधोदयो भवति।
तर्ह्येव स स्थिरः स्याद्यदि चित्तं शुद्धिमुपयाति।

चित्त में सत्वभाव की उत्पत्ति होने पर अर्थात् चित्त में के तमोगुण और रजोगुण दूर होकर सत्वगुण का उदय होने पर मेघमंडल में बिजली चमक जाने के समान ज्ञान का उदय होता है इसकारण जब विकार दूर होकर चित्त शुद्धि को प्राप्तहोता है तब ही वह मुमुक्षु पुरुष स्थिर होता है ॥ १६३ ॥

शुद्ध्यति हि नान्तरात्मा कृष्णपदाम्भोजभक्तिमृते।
वसनमिव क्षारोदैर्भक्त्या प्रक्षाल्यते चेतः १६४

श्रीकृष्णभगवान् के चरणकमल की भक्ति के विना मनुष्य का अन्तरात्मा शुद्ध नहीं होता है जैसे रीठे आदि के खार से युक्त जलों करके वस्त्र धोया जाता है तैसे ही कृष्ण की भक्ति से चित्त धोया जाता है ॥१६४ ॥

यद्वत्समलादर्शे सुचिरं भस्मादिना शुद्धे ।
प्रतिफलति वक्त्रमुच्चैः शुद्धे चित्ते तथा ज्ञानम् ॥

जैसे मलीन दर्पण को बहुत कालपर्यन्त भस्म आदि से स्वच्छ करलेने पर उस में यदि मुख देखा जायतो अत्यन्त स्पष्ट प्रतिबिम्ब दीखता है तैसे ही चिरकाल पर्यन्त भगवान् की भक्ति करके शुद्ध करे हुए चित्त में ज्ञान स्पष्टरूप से प्रकाशित होता है ॥ १६५ ॥

जानन्तु तत्र बीजं हरिभक्त्या ज्ञानिनो ये स्युः॥
मूर्त्तश्चैवामूर्त्तं द्वे एव ब्रह्मणो रूपे ॥ १६६ ॥

जो हरि भक्ति के द्वारा ज्ञानी होना चाहते हों वह इस बीज को जानलें कि–ब्रह्म के दो रूप हैं, एक मूर्त्त और दूसरा अमूर्त्त ॥ १६६ ॥

इत्युपनिषत्तयोर्वा द्वौ भक्तौ भगवदुपदिष्टौ ।
क्लेशादक्लेशाद्वा मुक्तिःस्यादेतयोर्मध्ये ॥१६७॥

ऐसा उपनिषद् है और उन ब्रह्म के, दोनो रूपों के, भगवान् ने दो प्रकार के भक्त कहे हैं परन्तु इन दोनों में जो अमूर्त्तरूपका भक्त है उसकी क्लेशसे और जो मूर्त्तरूपका भक्त है उसकी अनायास में मुक्ति होजाती है ॥ १६७ ॥

स्थूला सूक्ष्मा चेति द्विविधा हरिभक्तिरुद्दिष्टा ।
प्रारम्भे स्थूला स्यात्सूक्ष्मा तस्याः सकाशाच्च ॥

श्रीहरिकी भक्ति भी भक्तिके तत्त्व को जाननेवालों ने दो प्रकार की कही है, एक स्थूल और दूसरी सूक्ष्म है। प्रारम्भ में स्थूल भक्ति होती है और उसकी दृढ़ता होते होते अन्तमें उसी से सूक्ष्म भक्तिकी उत्पत्ति होतीहै ॥ १६८ ॥

स्वाश्रमधर्माचरणं कृष्णप्रतिमार्चनं नित्यम् ।
विविधोपचारकरणैर्हरिदासैःसङ्गमः शश्वत् १६९

अब स्थूल भक्ति का प्रारम्भ करने की रीति कहते हैं कि–ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, आदि जिस आश्रममें हो उस आश्रम के निमित्त शास्त्र में कहेहुए धर्मों का आचरण (पालन) करना नित्य श्रीकृष्ण की मूर्त्ति का,नानाप्रकार की सामग्रियों से पूजन करना, सदा हरिभक्तों का सङ्ग करना ॥ १६९ ॥

कृष्णकथासंश्रवणे महोत्सवः सत्यवादश्च ।
परयुवतौ परद्रविणे परापवादे पराङ्मुखता १७०

श्रीकृष्ण भगवान्‌की कथा सुनने में परम उत्साह रखना, सत्यबोलना, परस्त्री, परधन और परनिन्दा से पराङ्मुख (बचेहुए) रहना ॥ १७० ॥

ग्राम्यकथासूद्वेगः सुतीर्थगमनेषु तात्पर्यम् ।
यदुपतिकथावियोगे व्यर्थं गतमायुरिति चिन्ता॥

विषयभोगकी वार्त्ता जहाँ हो तहाँ से घवड़ाकर उठजाना यदि तीर्थ यात्रा को जाय तो तीर्थभावना से जाना मेला आदि देखने की वा अन्य किसी प्रयोजन की भावना से न जाना, जितना समय श्रीकृष्णभगवान् की कथा के विना बीते उसको समझे कि–इतने काल की मेरी आयु वृथाही गई अर्थात् कृष्णचर्चाके विना व्यर्थ समय न खोना ॥ १७१ ॥

एवं कुर्वति भक्तिं कृष्णकथानुग्रहोत्पन्ना ।
समुदेति सूक्ष्मभक्तिर्यस्यां हरिरन्तराविशति ॥

इसप्रकार स्थूल भक्ति करते २ श्री कृष्ण भगवान् की कथा के अनुग्रह से सूक्ष्म भक्ति उत्पन्न होती है; जिसके होने पर श्री हरि हृदय में प्रवेश करते हैं अर्थात् जिस के प्रभावसे अपने हृदय में ही श्रीहरिका दर्शन होजाता है॥१७२॥

स्मृतिसत्पुराणवाक्यैर्यथाश्रुतायां हरेर्मूर्त्तौ ।
मानसपूजाभ्यासो विजननिवासेऽपि तात्पर्यम्॥

स्मृति और श्रेष्ठ पुराणों के वाक्यों से जैसी सुनीहो वैसी ही श्रीहरि की मूर्त्ति की मानसिक पूजाका अभ्यास रखना अर्थात् षोड़शोपचार से नियमित कृष्णपूजन करने के सिवाय हरसमय चलते फिरते बैठते खाते आदि सब समय में मन में श्रीकृष्ण का पूजन करते रहना और निर्जन (जहाँ

मनुष्य आदिकों के अधिक आने जाने से भगवद्भक्ति की साधनामें विघ्न न हो ऐसे) स्थान अधिक रहने की इच्छा ॥१७३॥

सत्यं समस्तजन्तुषु कृष्णस्यावस्थितेर्ज्ञानम्।
अद्रोहो भूतगणे ततस्तु भूतानुकम्पास्यात्१७४

सत्य वोलना, समस्त प्राणियों में कृष्णभगवान् स्थित हैं ऐसा जानना, सकल प्राणियों में द्रोहभाव त्यागना तब प्राणियों के ऊपर दयारूप भक्ति का साधन ठीक होता है१७४

प्रमितयदृच्छालाभे सन्तुष्टिर्दारपुत्रादौ ।
ममताशून्यत्वमतो निरहङ्कारत्वमक्रोधः १७५

स्वयंसिद्ध जो कुछ जितना मिलजाय उतने में ही सन्तोष मानना, स्त्री पुत्रादि में ममता छोड़ना, जिससे कि बन्धन के कारणभूत, स्त्री, पुत्र धन आदि में का अहङ्कार दूर हो, और क्रोध न करना ॥ १७५ ॥

मृदुभाषिता प्रसादो निजनिन्दायां स्तुतौ समता।
सुखदुःखशीतोष्णद्वन्द्वसहिष्णुत्वमापदो न भयम् ॥

कोमल वाणी बोलना, (जिससे कि किसी को दुःख न हो) सदा प्रसन्न रहना (किसी के कुछ अपराध करने पर भी उसका अपकार करनेकी चिंतामें उद्विग्न न रहना। सुख दुःख और शरदी गरमी आदि द्वन्द्वों को सहने का स्वभाव रखना, आपत्ति आने पर किसी प्रकार का भय न मानना किन्तु धीरज के साथ भगवान् का स्मरण करना ॥१७६॥

निद्राहारविहारेष्वनादरः सङ्गराहित्यम् ।
वचनेऽपि नावकाशो नृहरिस्मरणेन शाश्वती शांति

उत्तम शय्यापर चित्तचाहें तवलों सोते रहनेका त्याग, मन चाहें सो भोजन करने का त्याग और चाहें जहाँ विहार करने

समय नष्ट करने का त्याग अधिक क्या सर्वथा संसारासक्त पुरुषों के सङ्ग से दूर रहना, निष्कारण वर्त्ताव करनेमें समय न खोना, निरन्तर नृसिंहरूप श्रीहरिका स्मरण करके शान्ति पाना ॥ १७७ ॥

केनापि गीयमाने हरिगीते वेणुनादे वा ।
आनन्दाविर्भावो युगपत्स्याद् दृष्टसात्त्विकोद्रेकः

किसीके हरिगीत गानेपर वा वेणुके शब्दमें हरिगुण गानेपर आनन्द की उमंग से एकसाथ साक्षात् सात्विकमूर्त्ति-श्रीहरि का आविर्भाव होता है ॥ १७८ ॥

तस्मिन्ननुभवति मनः प्रगृह्यमाणं परात्मसुखम् ।
स्थिरतां याते तस्मिन् याति मदोन्मत्तदन्तिदशाम्

उस सात्विकभाव का अनुभव करतेहुए परमात्मसुख को ग्रहण करताहुआ मन स्थिरता को प्राप्त होनेपर मदोन्मत्त गजराज की दशा को प्राप्त होजाता है ॥ १७९ ॥

जन्तुषु भगवद्भावंभगवतिभूतानिपश्यतिक्रमशः
एतादृशी दशा चेत्तदैव हरिदासवर्यः स्यात्१८०

जब ऐसी दशा होजाय कि–सकल प्राणियों में भगवान् की भावना करे अर्थात् 'सर्वं वासुदेवम्' ऐसा समझे और सकल प्राणियों को भगवान् के रूप में देखे तबही मनुष्य हरिभक्तों में श्रेष्ठ होता है ॥ १८० ॥

इति द्विधाभक्ति–प्रकरणम् ।

अथ ध्यानविधि–प्रकरणम्.

यमुनातटनिकटस्थितवृन्दावनकानने महारण्ये
कल्पद्रुमतलभूमौ चरणं चरणोपरि स्थाप्य१८१

तिष्ठन्तं घननीलं स्वतेजसा भासयन्तमिह विश्वम्
पीताम्बरपरिधानं चन्दनकर्पूरलिप्ताङ्गम्॥ १८२॥
आकर्णपूर्णनेत्रं कुण्डलयुगमण्डितश्रवणम् ।
मंदस्मितमुखकमलं सकौस्तुभोदारमणिहारम्॥
वलयांगुलीयकाद्यानुज्ज्वलयन्तं स्वलङ्कारान् ॥
गलविलुलितवनमालं स्वतेजसापास्तकलिकालं
गुञ्जारवालिकलितं गुञ्जापुञ्जान्विते शिरसि ।
भुञ्जानं सहगोपैः कुञ्जान्तरवर्तिनं हरिं स्मरत१८५

यमुना के तटके निकट वृन्दावन कानन की बड़ी भारी झाड़ी में, कदम्बरूप कल्पद्रुम के नीचे की भूमि में चरण के ऊपर चरण स्थापित करके स्थित, मेघमण्डल की समान श्यामवर्ण, अपने तेज से यहाँ विश्वको प्रकाशित करतेहुए पीताम्बरधारी, शरीरपर चन्दन कपूर आदि का लेपलगाये हुए; कानों पर्यन्त विशालनेत्रवाले दोनों कुण्डलों से जिन के दोनों कर्ण भूषित हैं, जिनके मुखकमल में मन्द मुसकान है, जिन के गले में कौस्तुभमणि सहित उत्तम वनमालारूप हार विराज रहा है, जो अपनी कांति से खँडुए और अंगूठी आदि आभूषणों को उज्ज्वल कररहे हैं, जिन के गले में वनमाला चारों ओर को लुड़करही, जिन्हों ने अपने तेज से ही कलियुग का तिरस्कार करा है, जो अपने शिरपर गुञ्जाओं को धारण करनेपर गुञ्जारनेवाले भ्रमरों से घेरेगये हैं ऐसे, कुञ्जके भीतर गोपों के साथ भोजन करतेहुए जो श्रीहरि उनका स्मरण करो।१८१।१८२।१८३।१८४।१८५।
मन्दारपुष्पवासैर्मन्दानिलैः सेवितं परानन्दम्।

मन्दाकिनीयुतपदं परमानन्दप्रदं महापुरुषम् ॥
सुरभीकृतदिग्वलयं सुरभिशतैरावृतं सदा परितः
सुरभीतिक्षपणपरं सुरभीयं यादवं नमत १८७

मन्दार (एकप्रकार के कल्पवृक्ष) के पुष्पोंसे वसे हुए मन्द २ पवनों से सेवन करे हुए, परम आनन्दमय, सकल दिशाओं को सुगन्धित करनेवाले, सदा सैंकड़ों सुरभि गौओं से चारों ओर घिरे हुए, देवताओं का भय दूर करनेवाले, गोपालन करनेवाले, परमानन्ददायक, महापुरुष, यदुकुल-भूषण श्रीकृष्ण जी को प्रणाम करो ॥ १८६ ॥ १८७ ॥

कन्दर्पकोटिसुभगं वाञ्छितफलदं दयार्णवं कृष्णं
त्यक्त्वा कमन्यविषयं नेत्रयुगं द्रष्टुमुत्सहते१८८

करोडों कामदेव की समान सुन्दर, इच्छित फल देनेवाले दयासागर, श्रीकृष्णभगवान् को छोड़कर यह दोनों नेत्र, और दूसरे किस विषयके देखने का उत्साह करते हैं ?।१८८।

पुण्यतमामतिसरसांमनोभिरामांहरेःकथांत्यक्त्वा
श्रोतुं श्रवणद्वन्द्वं ग्राम्यं कथमादरंवहति॥१८९॥

परमपवित्र, अतिरसीली, मन को प्रिय लगनेवाली श्री-हरि की कथा को छोड़कर यह दोनों कान, अन्य तुच्छ विषयों के सुनने में कैसे आदर करते हैं ? ॥ १८९ ॥

दौर्भाग्यमिन्द्रियाणां कृष्णे विषये हि शाश्वतिके
क्षणिकेषु पापकरणेष्वपि सज्जन्ते यदन्यविषयेषु

वास्तव में यह इन्द्रियों का दुर्भाग्य है, जो सदा रहने वाले कृष्णरूप विषय को छोड़कर यह, पाप के हेतु क्षण-स्थायी अन्य विषयों में आसक्त होती हैं ॥ १९० ॥

इति ध्यानविधि-प्रकरणम् ।

अथ सगुणनिर्गुणयोरैक्य-प्रकरणम् ।

श्रुतिभिर्महापुराणैः सगुण-गुणातीतयोरैक्यम् ।
यत्प्रोक्तं गूढतया तदहं वक्ष्येऽतिविशदार्थम् १९१

भगवान् के सगुण और गुणातीत (निर्गुण) रूपकी एकता, श्रुतियों में और बड़े२ पुराणों में गूढ़रूप से कही है, उसको मैं यहाँ अतिसरल और प्रकटरूप से कहूँगा ॥१९१॥

भूतेष्वन्तर्यामी ज्ञानमयः सच्चिदानन्दः ।
प्रकृतेः परः परात्मा यदुकुलतिलकः स एवायम्॥

जो सकल विश्व के चराचर प्राणियों में अन्तर्यामीरूप से रहता है, जो ज्ञानमय है, जो सत् चित् आनन्दस्वरूप है और जो प्रकृति से पर है वही परमात्मा यह यदुकुलतिलक श्रीकृष्णचन्द्र हैं ॥ १९२ ॥

ननु सगुणो दृश्यतनुस्तथैकदेशाधिवासश्च ।
स कथं भवेत्परात्मा प्राकृतवद्रागरोषयुतः॥१९३।

यहाँ शङ्का होती है कि—जो सगुण होगा उसका शरीर दीखनेवाला होगा तथा वह एकदेश (किसी थोड़े से स्थान) में रहनेवाला होगा और अन्य सांसारिक पुरुषों की समान रागद्वेषयुक्त भी होगा, फिर वह ऊपर (१९२ श्लोक में) कहेहुए लक्षणोंवाला परमात्मा कैसे होसक्ता है ? ॥ १९३ ॥

इतरे दृश्यपदार्था लक्ष्यन्तेऽनेन चक्षुषा सर्वे ।
भगवाननया दृष्ट्या न लक्ष्यते ज्ञानदृग्गम्यः ॥

और संसार के दीखनेवाले सकल पदार्थ इस स्थूल दृष्टि के देखने में आते हैं, परन्तु भगवान् इस दृष्टि से नहीं

देखेजाते हैं, क्योंकि–उन का दर्शन तो एक ज्ञानदृष्टि से ही होसक्ता है ॥ १६४ ॥

यद्विश्वरूपदर्शनसमये पार्थाय दत्तवान् भगवान्
दिव्यं चक्षुस्तस्माददृश्यता युज्यते नृहरौ ।१९५।

जब भगवान् ने अर्जुन को अपना विश्वरूप (विराट् स्वरूप) दिखाया था तब उस रूपके देखने के लिये अर्जुन को दिव्य चक्षु (दृष्टि) दी थी, इस कारण सिद्ध होता है कि–श्रीहरि इन नेत्रों से देखने में नहीं आसक्ते ॥ १९५ ॥

साक्षाद्यथैकदेशे वर्त्तुलमुपलभ्यते रवेर्बिम्बम् ।
विश्वं प्रकाशयति तत्सर्वैः सर्वत्र दृश्यते युगपत् ॥

सूर्य का बिम्ब जैसे एक देश में प्रत्यक्षरूप से गोल दीखता है वैसे ही सब देशों में सब को एकसा दीखता है और विश्व को प्रकाशित करता है ॥ १९६ ॥

यद्यपि साकारोऽयं तथैकदेशीव विभातियदुनाथः
सर्वगतः सर्वात्मा तथाप्ययं सच्चिदानन्दः।१९७।

तैसे ही यह यदुनाथ (श्रीकृष्ण) साकार हैं और अन्य साधारण मनुष्यों की समान एक देशी से भी प्रतीत होते हैं तथापि यह सर्वगत, सर्वात्मा, और सत् चित् आनन्द-स्वरूप हैं ॥ १९७ ॥

एको भगवान् रेमे युगपद्गोपीष्वनेकासु ।
अथवा विदेहजनकश्रुतदेवभूदेवयोर्युगपत् १९८
अथवा कृष्णाकारां स्वचमूं दुर्योधनोऽपश्यत् ।
तस्माद्व्यापक आत्मा भगवान् हरिरीश्वरः कृष्णः

देखो—एकही भगवान् ने एकही समय में अनेकों गोपियों के साथ (भिन्न भिन्न रूपसे) नृत्यविहार करा अथवा विदेह जनक और श्रुतदेव भूदेव के विषैं एकही साथ। तैसे ही दुर्योधन ने अपनी सकल सेना को कृष्णरूप देखा (ऐसा चरित्र केवल परमात्मा में ही घट सक्ता है) तिस से श्रीकृष्णजी, जगत् के आत्मा, सर्वत्र व्यापक, भक्तों के दुःख हरने वाले और ईश्वर हैं ॥ १९८ ॥ १९९ ॥

वक्षसि यदा जघान श्रीवत्सः श्रीपतेः स किं द्वेष्यः
भक्तानामसुराणामन्येषामस्त्रा फलं सदृशम् २००

भृगुजी ने विष्णुभगवान् के हृदय में लात मारी जिस से उत्पन्न हुए चिन्ह को भगवान ने श्रीवत्स नामक भूषण रूप से धारण करा और वह श्रीवत्स उनको बुरा नहीं मालूम हुआ न उन्होंने भृगुजी से ही द्वेषभाव करा, ठीक ही है, क्योंकि—भगवान् के यहां भक्तों को, असुरों का वा औरों को कर्मानुसार समानही फल होगा ॥ २०० ॥

तस्मान्न कोऽपि शत्रुर्नो मित्रं नाप्युदासीनः।
नृहरिःसन्मार्गस्थः सफलःशाखीव यदुनाथः२०१

तिससे श्रीहरि का न कोई शत्रु है, न कोई मित्र है और न कोई उदासीन है, यदुनाथ श्रीकृष्णजी सन्मार्ग में स्थित फलवाले वृक्षकी समान हैं ॥ २०१ ॥

लोहशलाकानिवहैः स्पर्शाश्मनि भिद्यमानेऽपि।
स्वर्णत्वमेति लौहं द्वेषादपि विद्विषां तथा प्राप्तिः।

जैसे पारस पत्थरको यदि लोहे की शलाकाओं के समूहोंसे तोड़ो तब भी वह शलाकाओं का लोहा सुवर्णरूप हो-

जाता है, तैसेही यदि शत्रु होकर द्वेषभाव सें भगवान् का चिन्तवन कियाजाय तब भी भगवान् उस चिन्तवन के प्रभावसे शत्रुभाव रखनेवालों को भी सद्गति देते हैं॥ २०२ ॥

नन्वात्मनः सकाशादुत्पन्ना जीवसन्ततिश्चेयम्।
जगतः प्रियतर आत्मा तत्प्रकृते नैव सम्भवति॥

तहाँ शङ्का होतीहै कि-'एकोऽहं बहुस्यां प्रजायेय' इत्यादि श्रुतियों के अनुसार आत्मा से ही यह सकल जीवसमूह उत्पन्नहुए हैं और आत्मा जगत् का परमप्रिय है सो,यह ऐसा होना दृश्यमान सगुण में तो नहीं बनसक्ता ॥ २०३ ॥

वत्साहरणावसरे पृथग्वयोरूपवासनाभूषान् ।
हरिरजमोहं कर्तुंसवत्सगोपान् विनिर्ममे स्वस्मात्

ऊपर के श्लोक में करी हुई शङ्काका उत्तर कहते हैं कि-देखो सगुणरूप परब्रह्म श्रीकृष्णने, ब्रह्माजी के वत्सहरण करने के समय, जैसे २ जो वत्स ग्वाल आदि ब्रह्माजी के द्वारा हरेगये थे वैसे २ ही भिन्न २ अवस्था,रूप,वासना और आभूषणवाले, अपने शरीर से ब्रह्माजी को मोहित करने को (ब्रह्माजी का अभिमान दूरकरने को) रचे ॥ २०४ ॥

अग्नेर्यथा स्फुलिङ्गाः क्षुद्रास्तु व्युच्चरन्तीति।
श्रुत्यर्थं दर्शयितुं स्वतनोरतनोत्स जीवसन्दोहं

देखो—साक्षात् परब्रह्म श्रीकृष्ण भयवान् ने, यह जो अपने शरीर से वत्स गोपादिक जीवों की रचना करी सो 'यथाऽग्नेः क्षुद्रा विस्फुलिङ्गा व्युच्चरन्त्येवमेवास्मादात्मनः सर्वे प्राणाः सर्वे लोकाः सर्वे देवाः सर्वाणिभूतानि व्युच्चरन्ति' अर्थात् जैसे अग्नि से इन्धनादि उपाधि के कारण छोटी २

चिनगारियें निकलती हैं तैसे ही आत्मा से सकल प्राण, सकल लोक, सकल देव और सकल प्राणी उत्पन्न होते हैं, इस श्रुति का अर्थ प्रत्यक्ष करदिखाया । इस से सिद्ध हुआ कि परब्रह्म परमात्मा निर्गुणरूप से जो कुछ करते हैं वह सगुण रूपसे भी करतेहैं परन्तु इस प्रभाव के जाननेको भगवान् की भक्ति करना चाहियें ॥ २०५ ॥

यमुनातीरनिकुञ्जे कदाचिदपि वत्सकांश्चारयति
कृष्णे तथार्यगोपेषु च वरगोष्ठेषु चारयत्स्वारात्
वत्सं निरीक्ष्य दूराद्गावः स्नेहेन सम्भ्रान्ताः ।
तदभिमुखं धावन्त्यः प्रययुर्गोपैश्च दुर्वाराः॥२०७॥
प्रस्रवभरेण भूयः स्नुतस्तनीः प्राप्यपूर्ववत्सानि ।
पृथुरसनयालिहन्त्यस्तर्णकवत्यःप्रपाययन्प्रमुदा
गोपा अपि निजबालान्जगृहुर्मूर्धानमाघ्राय ।
इत्थमलौकिकलाभस्तेषां तत्र क्षणं ववृधे॥२०९॥
गोपा वत्साश्चान्या पूर्वंकृष्णात्मका ह्यभवन् ।
तेनात्मनः प्रियत्वं दर्शितमेतेषु कृष्णेन॥२१०॥
प्रेयः पुत्राद्वित्तात्प्रेयोऽन्यस्माच्च सर्वस्मात् ।
अन्तरतरं यदात्मेत्युपनिषदः सत्यताऽभिहिता ।

किसी समय यमुनातट की कुञ्ज में कृष्ण के वछड़ों को चराते हुए, और अन्य वृद्धगोपों के कहीं समीपके श्रेष्ठ गोठों में गौओं के चरातेहुए क्षणभर को यह लीला हुई कि-गौएें दूर सेही बछड़ों को देखकर परम स्नेह में भरगईं और उन वछड़ों की ओर को दौड़ती हुई आईं, गोपों ने कि

तनाही रोका परन्तु न रुकीं और दूधभरे स्तनोंमें से वारं-वार दूधको टपकाती हुई अपने पहिले (बड़े) वछड़ों के पास आकर, छोटे २ बछड़ोंवाली होकरभी, उन बड़े बछडों को प्रेम के साथ जीभ से चाटती हुई दूध पिलानेलगीं। गोपों ने भी अपने २ बालकों को गोदी में लेकर उनके मस्तक को सूँघा। इसप्रकार तहाँ क्षणभरको अलौकिक प्रेम बढ़ा। गोप, वत्स और गौ सव अपूर्व कृष्णात्मक हुए। इस लीला से श्रीकृष्णजी ने इन सब में आत्माका प्रियत्व दिखाया और 'तदेतत्प्रेयः पुत्रात्प्रेयोऽन्यस्मात्सर्वस्मादनन्तरं यदयमात्मा' इस उपनिषद् की श्रुति की सत्यता कर दिखायी ॥ २०६ ॥ २०७ ॥ २०८ ॥ २०९ ॥ २१० ॥ २११ ॥

ननु उच्चावचभूतेष्वात्मा सम एव वर्त्ततेऽथ हरिः।
दुर्योधनेऽर्जुने वा तरतमभावं कथं नु गतवान् सः

तहाँ शङ्का करते हैं कि—आत्मा तो ऊँचे, नीचे, छोटे बड़े सकल प्राणियों में समानभाव से वर्त्तमान है फिर उन श्री हरि वसुदेवकुमार ने, दुर्योधन और अर्जुन में भेदभाव से कैसे वर्त्ताव करा ? ॥ २१२ ॥

वधिरान्ध-पंगु-मूका दीर्घाः खर्वाः सरूपाश्च ।
सर्वे विधिना दृष्टाः सवत्सगगाश्चतुर्भुजास्तेन ॥

पहिले बछड़े आदि चुराकर लेजानेवाले ब्रह्मा ने फिर व्रज में आकर गोप बछड़े आदिकों को ही जैसा का तैसा नहीं देखा किन्तु किसी क्षण में वहिरे, अन्धे, गूँगे, लम्बे, बौने, बछड़ोंसहित सकल ही ग्वाल विष्णु की समान चतुर्भुजी मूर्त्तिवाले भी देखे, (इसकारण परमार्थ दृष्टि से देखाजाय तो श्रीकृष्ण वास्तव में ही परब्रह्मरूप और कर्त्तुं अकर्त्तुं अन्यथाकर्त्तुं समर्थ थे ॥ २१३ ॥

भूतसमत्वं नृहरेः समो हि मशकेन नागेन ।
लोकैः समस्त्रिभिर्वेत्युपनिषदा भाषितः साक्षात्॥

नृहरि भगवान् सकल प्राणियों में समान भाव से हैं,जो आत्मा मच्छर में है वही हाथी में है अधिक क्या त्रिलोकी में परमात्मा एकरूप से व्याप्त हैं, ऐसा साक्षात् उपनिषद् का कथन है, परन्तु इस का अनुभव विना भगवान् की कृपा के नहीं होसक्ता ॥ २१४॥

आत्मा तावदभोक्ता तथैव ननु वासुदेवश्चेत् ।
नानाकैतवयत्नैःपररमणीभिः कथं रमते॥२१५॥
सुन्दरमभिनवरूपं कृष्णं दृष्ट्वा विमोहिता गोप्यः
तमभिलषन्त्यो मनसा कामाद्विरहव्यथां प्रापुः॥
गच्छन्त्यस्तिष्ठन्त्यो गृहकृत्यपराश्च भुञ्जानाः ।
कृष्णाद्भिन्नानन्यविषयं समत्त्वमपि जातु नाविन्दन्
दुःसहविरहभ्रान्त्या स्वपतीन्ददृशुस्तरूनरांश्च पशून्
हरिरयमिति सुप्रीताः सुरभसमालिङ्गयाश्चक्रुः॥

शङ्का होती है कि—आत्मा तो अभोक्ता है और यदि वैसाही वसुदेव कुमार श्रीकृष्ण को भी, सगुणब्रह्म मानकर कहो तो भला कैसे वनसक्ता है ? क्योंकि—यदि वह भी निर्गुण आत्मा की समान अभोक्ता होते तो नानाप्रकार के छलबल के यत्न करके पररमणियों के साथ क्यों विहार करते ? (तहां कहते हैं कि—ऐसी शङ्का पामर पुरुषों की है कि—जो कृष्ण के चरित्रों के रहस्य को नहीं समझते हैं, क्योंकि-देखो) सुन्दर अलौकिक रूपवान श्रीकृष्णजी को देखकर गोपियें मोहित हुईं और मनसे उन कृष्ण की ही

अभिलाषा करती हुई, उनकी प्राप्ति की कामना से विरह की व्यथा को प्राप्त हुईं, क्योंकि—वह चलतीहुई, बैठी हुई, घर के कामकाज में लगी हुईं, और भोजन करती हुईं अपने नेत्रों के सामने विद्यमान भी अन्य वस्तु को कभी नहीं देखती थीं, सब पदार्थों में कृष्ण को ही देखती थीं,और जिस समय किञ्चित् भी ध्यान बटजाता था तो कृष्ण के विरह की भ्रांति से विव्हल होकर अपने पति, वृक्ष और पशुओं को यह कृष्ण ही हैं ऐसा निश्चय करके बड़े प्रेम के साथ उनको वेग से आलिङ्गन करती थीं ॥ २१५ ॥ ॥ २१६ ॥ २१७ ॥ २१८ ॥

कापि च कृष्णायन्ती, कस्याश्चित् पूतनायन्त्याः
अपिबत्स्तनमिति साक्षाद्व्यासो नारायणः प्राह

साक्षात् नारायणावतार व्यासजी ने श्रीमद्भागवत में भगवान् की रासक्रीड़ा के वर्णन के समय वर्णन करा है कि-जब गोपियों के अभिमान से भगवान् अन्तर्धान होगये तब कृष्णभगवान् की अनन्यभक्त गोपियें कृष्ण के बिना चित्त को शान्ति न देखकर स्वयं ही अपनपे को भूलकर और कृष्ण के ध्यान में लवलीन होकर कृष्ण की लीला करने लगीं; जब एक गोपी पूतनारूप बनी तब दूसरीने कृष्ण रूप बनकर उसका स्तन पिया (हा ! वास्तव में वह नारकी जीव हैं जो गोपियों की ऐसी अनन्यभक्ति के रहस्य को, न जानकर दोषारोपण करते हुए पाप के भागी बनते हैं) ॥ २१९ ॥

तस्मान्निजनिजदयितान्कृष्णाकारान्व्रजस्त्रियोवीक्ष्य
सपरनृपतिपत्नीनामन्तर्यामी हरिः साक्षात्२२०

वह गोपियें श्रीकृष्णजी की अनन्यभक्त थीं इसकारण ही 'सर्वं वासुदेवम्, ऐसी दृढ़भावना होने से उन्हों ने अपने पतियों को भी कृष्णरूप देखकर कृष्ण को साक्षात् पर ब्रह्म जाना और उन की प्राप्ति में सकल संसारी दिखावटों को त्यागदियां, इसकारण श्रीहरि कृष्णचन्द्र शत्रु मित्र, राजा और स्त्री आदि सब में साक्षात् अन्तर्यामी रूप से विराजमान हैं ॥ २२० ॥

परमार्थतो विचारो गुड़तन्मधुरत्वदृष्टान्तात् ।
नश्वरमपि नरदेहं परमात्माकारतां याति २२१

यदि परमार्थरूप से विचार किया जाय तौ मधुरता और गुड़ के दृष्टान्त से नाशवान् भी मनुष्य शरीर परमात्मभाव को प्राप्त होजाता है ॥ २२१ ॥

किम्पुनरन्तशक्तेर्लीलावपुरीश्वरस्येह ।
कर्माण्यलौकिकानि स्वमायया विदधतो नृहरेः॥

जब साधारण मनुष्यशरीर परमात्मभाव को प्राप्त होसक्ता है तो फिर इस संसार में भक्तों के निमित्त धारण करेहुए, अपनी माया से अलौकिक कर्म करनेवाले जगदीश्वर श्रीहरि के दिव्य लीलाविग्रह का तो कहना ही क्या है ? ॥ २२२ ॥

मृद्भक्षणेन कुपितां विकसितवदनांस्वमातरंचक्रे
विश्वमदर्शयदखिलं किंपुनरथविश्वरूपोऽसौ ॥

देखो—श्रीकृष्णजी ने बालक अवस्था में जब मृत्तिका खाई तब कुपितहुई और प्रेमवश प्रसन्नमुख अपनी माताको, अपने मुख में मृत्तिका तो नहीं किंतु अखिल विश्व दिखा-

दिया, सो यह उनके लिये कोई अद्भुत बात नहीं थी क्यों-कि-वहतो विश्वरूप हैं ॥ २२३ ॥

इति सगुणनिर्गुणयोरैक्यप्रकरणं-समाप्तम् ।

अथ आनुग्रहिकं-प्रकरणम् ।

विषविषमस्तनयुगलं पाययितुं पूतना गृहं प्राप्ता।
तस्याः पृथुभाग्याया आसीत्कृष्णार्पणो देहः ॥

देखो–पूतना अपना विषभरा घोरस्तन पिलाने के निमित्त श्रीकृष्ण के घर आई, परन्तु भगवान् बड़े न्यायकर्त्ता हैं उन्होंने केवल मुखमें उसका स्तन लेने के कारण से ही उस को माताकी गति दी, वास्तव में पूतना बड़ी भाग्यवती थी जो उसका विष्ठा, भस्म और कीटरूप परिणाम को प्राप्त होनेवाला देह कृष्णार्पण हुआ ॥ २२४ ॥

अनयत्पृथुतरशकटं निजनिकटं स्वाकृतापराधमपि
कण्ठाश्लेषविशेषादवधीद्बाल्येऽसुरं कृष्णः।२२५।

देखो-शकटासुर श्रीकृष्ण का प्राणान्त करने को आया परन्तु उन्हों ने वालक अवस्था में ही उसके ऊपर भी अनुग्रह करा, क्योंकि–अपराध करनेवाले भी बड़ेभारी शकटासुर को अपने समीप को लाकर अपने कण्ठ से लगाय (निष्पापकर) उस असुर का वध करा (जिस से परम गति को प्राप्त हुआ) ॥ २२५ ॥

यमलार्जुनौ तरू उन्मूल्योलूखलगतश्चिरं खिन्नौ
रिङ्गन्नङ्गणभूमौ स्वमालयं प्रापयन्नृहरिः ॥२२६॥

देखो–श्रीहरि ने, जब माता ने ऊखल से बांध दिया

उससमय चिरकाल से खिन्न होतेहुए यमलार्जुन नामक वृक्षों को आँगन की भूमि में घुटनों चलते २ उखाड़कर अपने धाम को पहुँचादिया ॥ २२६ ॥

नित्यं त्रिदशद्वेषी येन च मृत्योर्वशीकृतः केशी।
काकः कोऽपि वराको वकोऽप्यशोकं गतो लोकम्।

देखो—अपने भक्तों के दुःख हरने वाले जिन श्रीहरि नें नित्य देवताओं के द्वेषी केशी असुर को मृत्यु के वश में पहुँचाया और उस नीच काक समान पक्षियों की योनि के वकासुर को जहाँ शोक नहीं, ऐसे लोक को पहुँचादिया (क्या यह और किसी से होसक्ता है ?)॥ २२७ ॥

गोगोपीगोपानां निकरमहिं पीड़यन्तमतिवेगात्
अनघमघासुरमकरोत्पृथुतरमुरगेश्वरं भगवान्।

देखो—भगवान् ने, गौ, गोपी और गोपों के समूह को निगल कर उदर में पीड़ा देते हुए बड़े भारी सर्पराज अघासुर को भी निष्पाप करदिया ॥ २२८ ॥

पीत्वारण्यहुताशनमसह्यतत्तेजसो हेतेः।
दग्धान्मुग्धानखिलाञ्जुगोप गोपान् कृपासिन्धुः

देखो—जब वन में अग्नि लगी और उस अग्निकी असह्य तेजवालीं लपटों से भस्म होतेहुए सकल मुग्ध (किसीप्रकार का उपाय न करसकनेवाले) गोपोंकी, कृपासिन्धु भगवान् ने उस सकल अग्नि का पान करके रक्षा करी ॥ २२९ ॥

पातुं गोकुलमाकुलमशनिताड़हर्षणैः कृष्णः ॥
असहाय एकहस्ते गोवर्द्धनमुद्दधाराब्देः॥२३०॥

देखो—जिस समय इन्द्रने कुपित होकर व्रज के ऊपर वज्रपात बिजली आदि सहित मूसलधार जलकी वर्षा करी उस समय श्रीकृष्णजी ने व्रज की रक्षा करने के निमित्त विना किसी की सहायता के हाथ की एक अंगुलि के ऊपर वहुत ऊँचा करके गोवर्द्धन को धारण करा ॥ २३० ॥

वासोलाभाकलितं धावद्रजकं शिलातलैर्हत्वा।
विस्मृत्यतदपराधं विकुण्ठवासोऽर्पितस्तस्मै २३१

देखो वस्त्रमात्र के लोभ में भरेहुए, वस्त्र धोतेहुए रजक को शिलातलपर प्राणहीन करके श्रीकृष्ण ने उसके अपराध की ओर कुछध्यान न करके उसको अपना वैकुण्ठधामदिया २३१

त्रेधावक्रशरीरामतिलम्बोष्ठीं स्खलद्वपुर्वचनात्।
स्रक्चन्दनपरितोषात्कुब्जामृज्वाननामकरोत् ॥

देखो—जिसका शरीर तीन स्थान टेढ़ाथा जिसका ओठ अतिलम्बा था, जिसका शरीर वेडौल था, जो मुखमें से पूरा२ कोई वचन भी नहीं उच्चारण करसक्ती थी, उस अधम कुब्जाको भी भगवान् ने, केवल माला और चन्दन से प्रसन्न होकर सुन्दरमुखी करदिया ॥ २३२ ॥

निहतःपपात हरिणा हरिचरणाग्रे कुवलयापीडः
तुङ्गोन्मत्तमतङ्गः पतङ्गवद्दीपकस्याग्रे ॥ २३३ ॥

देखो—ऐसा बली वड़ा ऊँचा उन्मत्त गजराज कुवलयापीड़ श्रीहरि का वध कराहुआ उनके चरण के समीप में ऐसा गिरा जैसे पतङ्ग दीपक से मरणको प्राप्त होकर उसके आगे गिरपड़ता है ॥ २३३ ॥

युद्धमिषात्सह रङ्गे श्रीरङ्गनाङ्गसङ्गमं प्राप्य।

मुष्टिकचाणूराख्यौ ययतुर्निःश्रेयसं सपदि॥२३४॥

कंस की सभारूप समरभूमि (कुश्तीके अखाड़े) में मुष्टिक और चाणूर युद्धके वहानेसे लक्ष्मीपति भगवान्के पवित्र अङ्गके सङ्ग को पाकर तत्काल मुक्तिपद को प्राप्त होगये ॥ २३४ ॥

देहकृतादपराधाद्वैकुण्ठोत्कण्ठितान्तरात्मानम्।
यदुवरकुलावतंसः कंसं विध्वंसयामास ॥२३५॥

वैकुण्ठ में जाने के निमित्त जिसका अन्तरात्मा उत्कण्ठित होरहा है इसकारण ही देह से (चित्त से नहीं) अपराध करने वाले कंसका, यदुवरकुलावतंस श्रीकृष्ण ने विध्वंस करा अर्थात् नवधाभक्ति के अन्तर्गत वैरभाव से भक्ति करनेवाले कंस को भगवान् ने संसारवन्धन से छुटा मुक्ति पद दिया ॥ २३५ ॥

हरिसन्दर्शनयोगात्पृथुरणतीर्थे निमज्जते तस्मै।
भगवानु प्रददावद्यःसद्यश्चैद्याय सायुज्यम्॥२३६॥

श्रीहरिदर्शन के योग से वड़ेभारी रणतीर्थ में गोता लगाते हुए तिस प्रसिद्ध वैरभाव रखनेवाले चेदिराज शिशुपालको जिन भगवान् ने सायुज्य मुक्ति दी ॥ २३६ ॥

मीनादिभिरवतारैर्निहताः सुरविद्विषो बहवः।
नीतास्तेनिजरूपंतत्रचमोक्षस्यकावार्ता ॥२३७॥

श्रीहरि ने मत्स्यादि अवतार धारकर देवताओंसे द्वेष करने वाले वहुत से दैत्योंका विनाश करा और उन को सारूप्य दिया फिर वहाँ मोक्ष का तो कहना ही क्या ? ॥ २३७ ॥

ये यदुनन्दननिहतास्ते तु न भूयः पुनर्भवं प्रापुः।
तस्मादवताराणामन्तर्यामी प्रवर्त्तकःकृष्णः२३८

यदुनन्दन भगवान् ने जिन असुरों का वधकरा वह फिर संसार में जन्म को नहीं प्राप्तहुए, इसकारण प्रतीत होताहै कि मोक्षदाता अन्तर्यामी कृष्ण अवतारों के प्रवर्त्तक हैं ॥२३८॥

ब्रह्माण्डानि बहूनि पङ्कजभवान् प्रत्यण्डमत्यद्भुतान्
गोपान् वत्सयुतानदर्शयदजं विष्णूनशेषांश्च यः।
शम्भुर्यच्चरणोदकं स्वशिरसा धत्ते च मूर्त्तित्रया-
त्कृष्णो हि पृथगस्ति कोऽप्यविकृतःसच्चिन्मयोनीलिमा ॥२३९॥

जब ब्रह्माजी व्रज में आय ग्वाल-गौ-बछरादि चुराय लेगये, और उनको ब्रह्मलोक में रखकर व्रज की दशा देखने को लौटकर आये तो कृष्ण ने उनको, बहुतसे ब्रह्माण्ड और उन में अति अद्भुत अनेकों ब्रह्मा, गो बछड़ाओं सहित गोपाल और अनेकों विष्णु दिखाये. जिनके चरण के जलको (ब्रह्मद्रवरूप भगवती गङ्गाको) साक्षात् शिव अपने मस्तकपर धारण करते हैं इसकारण निःसन्देह श्रीकृष्णजी निर्विकार, सच्चि मय नीलिमा रूप कोई अनिर्वचनीय वस्तु (ब्रह्म) ब्रह्मा, विष्णु और शिव इन तीनों मूर्त्तियोंसे पृथक् हैं ॥ २३९ ॥

कृपापात्रं यस्य त्रिपुररिपुरम्भोजवसतिः,
सुता जन्होः पूता चरणनखनिर्णेजनजलम् ।
प्रदानं वा यस्य त्रिभुवनपतित्वं विभुरपि,
निदानं सोऽस्माकं जयति कुलदेवो यदुपतिः२४०

त्रिपुरारि शिव और कमलासन ब्रह्माजी जिनके कृपापात्र हैं, परमपवित्र जान्हवी गङ्गा जिनके चरण के नख का धोवन है, जिनका दान, त्रिलोकी का पतिपर्यन्त बनादेना प-

सिद्ध है, ऐसे विभु होकर भी जगत् के आदिकारण हमारे कुलदेव यदुपति कृष्ण सर्वोत्कर्ष करके विराजमान हैं ॥२४०॥

मायाहस्तेऽर्पयित्वा भरणकृतिकृते मोहमूलोद्भवंमां
मातःकृष्णाभिधानेचिरसमयमुदासीनभावंगतासि।
कारुण्यैकाधिवासेसकृदपिवदनं नेक्षसे त्वंमदीयं
तत्सर्वज्ञे न कर्त्तुं प्रभवसि भवती किं नु मूलस्य शांतिम्

भगवान् के अनन्यभक्त "त्वमेव माता च पिता त्वमेव" इस महाभारत के प्रमाणानुसार माता पिता आदि सकल भावों से भगवान् की प्रार्थना करते हैं तिसीके अनुसार भगवान् के अनन्यभक्त ग्रन्थकार कृष्ण की मातारूप से प्रार्थना करते हैं कि-हे कृष्णनामक मातः! मोहरूप मूल (जड़) के द्वारा संसार में जन्म धारण करनेवाले मुझ को उदरभरण का कार्य करने के निमित्त मायाके हाथ में अर्पण करके चिरकालसे उदासीन होगई है और हे दयालुता की एक स्थानरूप कृष्णमातः! तू एकवार भी मेरे दीन मुखको नहीं देखती है, सो हे सर्वज्ञे! क्या तू मेरे संसारबन्धन के मूल मोहकी शान्ति करने को समर्थ नहीं है? किन्तु तू सर्वसमर्थ है अतः मेरे मोहबन्धन को काटकर मोक्षसुख दे ॥२४१॥

उदासीनः स्तब्धः सततमगुणः सङ्गरहितो,
भवांस्तातः कातः परमिह भवेज्जीवनगतिः।
अकस्मादस्माकं यदि न कुरुते स्नेहमथ तत्,
वसस्व स्वीयान्तर्विमलजठरेऽस्मिन् पुनरपि२४२

अब पितारूप से प्रार्थना करते हैं कि-हेकृष्णपितः! मैं

संसारवासनाओं में पड़कर उदासीन हूँ, स्तब्ध हूँ निरन्तर गुणहीन और साधुसङ्गहीन हूँ, आप समान पिताके होतेहुए अब मेरी इस संसार में आगे को जीवन की इससे अधिक क्या दशा होगी ? यदि आप मुझ से अकस्मात् पितृवात्सल्यरूप वह प्रसिद्ध स्नेह नहीं करते हैं तो अब फिर मेरे इस हृदयको निर्मल कर तिस में वसो ॥ २४२ ॥

लोकाधीशे त्वयीशे किमिति भवभवा वेदनास्त्वाश्रितानां
सङ्कोचः पङ्कजानां किमिह समुदिते मण्डले चण्डरश्मेः
भोगः पूर्वार्जितानां भवति भुवि नृणां कर्मणां चेदवश्यं
तन्मे दृष्टैर्नृपुष्टैर्ननु दनुजनृपैरूर्जितं निर्जितं ते ॥

त्रिलोकीपति आपसमान स्वामी के होतेहुए आपके आश्रितों को संसार से प्राप्त होनेवाली पीड़ा किसकारण ? अर्थात् ऐसा नहीं होना चाहियें, क्योंकि–क्या इस जगत् में चण्डकिरणधारी सूर्य का उदय होनेपर कमल मुँदे रहते हैं ? किन्तु नहीं. यदि कहो कि–पूर्वजन्मों में करेहुए कर्मोंका भोग भूतलपर मनुष्यों को अवश्य होता है तो–मैंने शास्त्रों में देखा है कि–आपने, अपने को मनुष्यों के द्वारा पुष्ट होनेवाले दैत्यराजों का बड़ाभारी पाप दूर करा है, क्योंकि--उन को मुक्ति प्राप्तहुई ॥ २४३ ॥

नित्यानन्दसुधानिधेरधिगतः सन्नीलमेघः सता-
मौत्कण्ठ्यप्रबलप्रभञ्जनभरैराकर्षितो वर्षति ।
विज्ञानामृतमद्भुतं निजवचोधाराभिरारादिदं
चेतश्चातक चेन्न वाञ्छति मृषाक्रान्तोऽसि सुप्तोऽसि किम्

हे चित्तचातक ! नित्यानन्दसुधासमुद्र से उठाहुआ स-

द्रूप नीलमेघ (कृष्ण), भक्तों की उत्कण्ठारूप प्रबल वायु के झोकों से खिचाहुआ, अपनी वाणीरूप धाराओं से यह समीप में ही अद्भुत विज्ञानरूप अमृत (गीता) को वरसा रहा है, यदि तू उस की इच्छा नहीं करता है तो क्या मायासे मोहित होकर सोरहा है ? ॥ २४४ ॥

चेतश्चञ्चलतां विहाय पुरतःसन्धाय कोटिद्वयं
तत्रैकत्र निधेहि सर्वविषयानन्यत्र च श्रीपतिम् ।
विश्रान्तिर्हितमप्यहोक्वनुतयोर्मध्येतदालोच्यतां
युक्त्यावानुभवेनयत्रपरमानन्दश्चतत्सेव्यताम् ॥२४५॥

हे चित्त ! चञ्चलता को त्यागकर अपने सन्मुख दो पंक्ति कर; उन में से एक ओर सकल विषयों को और दूसरी ओर लक्ष्मीपति भगवान् को स्थापन कर और फिर उन दोनोका विचारकर कि-विश्राम और अपनाहित किसमेंहै. युक्ति वा अनुभव से जिस में परमानन्द प्राप्त हो उसका सेवनकर ॥२४५॥

पुत्रान्पौत्रमथस्त्रियोऽन्ययुवतीर्वित्तान्यथोऽन्यद्धनं
भोज्यादिष्वपि तारतम्यवशतो नालं समुत्कंठया
नैतादृग्यदुनायके समुदिते चेतस्यनन्ते विभौ
सांद्रानंदसुधार्णवे विहरति स्वैरं यतो निर्भयम् ॥

पुत्र, पौत्र, स्त्री, परस्त्री, धन, परायाधन और भोजन के पदार्थ आदिकों में उत्कण्ठा करना मनुष्यजीवन के लिये पर्याप्त नहीं है क्योंकि-इनभोगपदार्थों में दैवाधीन न्यूनाधिक भाव होता है; प्राणी की इच्छा के अनुसार कुछ नहीं होताहै. चित्त में अनन्त, सर्वव्यापी सान्द्रानन्दसुधासमुद्ररूप यदुपति

कृष्णभगवान् के आकर विराजने पर वह दशा नहीं रहती है, क्योंकि उससमय मनुष्य दैव आदि के बन्धन से रहित निर्भय होकर यथेष्ट विहार करता है ॥ २४६ ॥

काम्योपासनयार्थयन्त्यनुदिनं किञ्चित्फलंसेप्सितम्
किञ्चित्स्वर्गमथापवर्गमपरैर्योगादियज्ञादिभिः ।
अस्माकं यदुनन्दनांघ्रियुगलध्यानावधानार्थिनां
किं लोकेन दमेन किं नृपतिना स्वर्गापवर्गैश्च किम्

कोई किसी इच्छित फल की प्राप्ति के निमित्त प्रतिदिन भगवान् का काम्यकर्मों के द्वारा पूजन करते हैं, कोई स्वर्ग अपवर्ग की प्राप्तिके निमित्त अन्य योग यज्ञादि के द्वारा भगवान् की आराधना करतेहैं परन्तु, यदुनन्दन कृष्णके दोनों चरणोंके ध्यानकी सावधानी की इच्छा करनेवाले हमैं लोकसमूहसे, आज्ञा चलाने से, किसी राजा से वा स्वर्ग और अपवर्ग से भी कौन प्रयोजन है ? अर्थात् हमैं कृष्ण के चरणों के ध्यानके सिवाय और किसी पदार्थ की इच्छा नहीं है।

आश्रितमात्रं पुरुषं स्वाभिमुखं कर्षति श्रीशः ।
लोहमपि चुम्बुकाश्मा सन्मुखमात्रं जडं यद्वत् ॥ २४८ ॥

जैसे चुम्बुक पत्थर जड़ लोहेको भी सन्मुख आतेही खैंचलेता है तैसे ही लक्ष्मीपति भगवान् अपना अनन्य आश्रय करनेवाले सन्मुख आयेहुए पुरुषको अपने समीप को खैंचलेते हैं ॥ २४८ ॥

अयमुत्तमोऽयमधमो जात्यारूपेणसम्पदा वयसा ।
श्लाघ्योऽश्लाघ्यो वेत्थं न वेत्ति भगवाननुग्रहावसरे ॥ २४९ ॥

जाति, रूप, सम्पत्ति और अवस्था करके यह उत्तम है,

यह अधम है वा यह श्लाघनीय है, यह निन्दनीय है, ऐसा भगवान् अनुग्रह करने के समय नहीं विचारते हैं ॥ २४६ ॥

अन्तःस्थभावभोक्ता ततोऽन्तरात्मा महामेघः ।
खदिरश्चम्पक इव वा प्रवर्षणं किं विचारयति ॥

भगवान् हृदय के भाव को भोगते हैं इसकारण ही अन्तर्यामी हैं, ऊपरी नाम आकृति आदि पर विशेषदृष्टि नहीं करते हैं; क्या मेघ की बड़ीभारी घटा वर्षा करते समय यह खैर है इसपर वर्षा न करूँ, यह चम्पक है इसपर वर्षा करूँ ऐसा विचारता है ? किन्तु नहीं, इसीप्रकार भगवान् भक्तों के ऊपर अनुग्रह की वर्षा करते समय उत्तम अधम का विचार नहीं करते हैं ॥ २५० ॥

यद्यपि सर्वत्र समस्तथापि नृहरिस्तथाप्येते ।
भक्ताः परमानन्दे रमन्ति सदयावलोकेन २५१

यद्यपि भगवान सब जड़चेतन में समदृष्टि रखते हैं तथापि भक्त प्रह्लाद के निमित्त नृसिंहरूप धारण करा, इसीकारण यह भगवान् के भक्त भगवान् की कृपादृष्टि से परमानन्दरस में रमण करते हैं ॥ २५१ ॥

सुतरामनन्यशरणाः क्षीराद्याहारमन्तरा यद्वत् ।
केवलया स्नेहदृशा कच्छपतनयाः प्रजीवन्ति ॥

देखो—जल में सर्वथा अन्य का आश्रय न होने के कारण भगवान् का ही आश्रय रखनेवाले कच्छपादि जलजन्तुओं के बच्चे दुग्ध आदि आहार के विना ही केवल भगवान् की स्नेहदृष्टि से ही जीवित रहते हैं ॥ २५२ ॥

यद्यपि गगनं शून्यं तथापि जलदामृतांशुरूपेण।
चातकचकोरनाम्नोर्दृढभावात्पूरयत्याशाम् २५३

यद्यपि आकाशशून्य है तथापि अपनी ओर दृढभाव से दृष्टि लगानेवाले चातक और चकोर की आशाको मेघकी अमृत रूप विन्दु के द्वारा पूर्ण करता है॥ २५३॥

तद्वद्व्रजतां पुंसां दृग्वाङ्मनसामगोचरोऽपि हरिः
कृपया फलत्यकस्मात्सत्यानन्दामृतेन विपुलेन॥

तैसे ही दृष्टि, वाणी और मन के अगोचर भी श्रीहरि, शरण आनेवाले पुरुषों को सब से अधिक सत्यानन्दरूप अमृतके द्वारा फल देते हैं, अर्थात् भगवान् भक्तों के निमित्त, निर्गुण होनेपर भी सगुणरूप धारण करते हैं, जैसा कि—गीता में कहा है "परित्राणाय साधूनां विनाशायच दुष्कृताम्। धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे" ॥ २५४॥

॥ आनुग्रहिकं प्रकरणं समाप्तम् ॥

इतिश्रीमच्छङ्कराचार्यविरचितः प्रबोधसुधाकरः पश्चिमोत्तरदेशीय-
रामपुरनिवासि—मुरादाबादप्रवासि-भारद्वाजगोत्र—गौड़वंश्य—
श्रीयुतपण्डितभोलानाथात्मजेन,काशीस्थराजकीयप्रधान-
विद्यालये प्रधानाध्यापक—सर्वतन्त्रस्वतन्त्र—महाम-
होपाध्याय-सत्सम्प्रदायाचार्य-पण्डितस्वामिराम-
मिश्रशास्त्रिभ्योधिगतविद्येन, ऋषिकुमारोप—
नामकपण्डितरामस्वरूपशर्मणा विरचि-
तया भाषाटीकया सहितः समाप्तः.

य है, ऐसा

॥२४६॥

घः।

